श्रीहरिः

मनुष्य-जीवनकी सफलता



लेखक—

जयदयाल गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१४ प्रथम संस्करण १०,२५०

मूल्य १) एक रुपया
सजिल्द १।=) एक रुपया छः आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

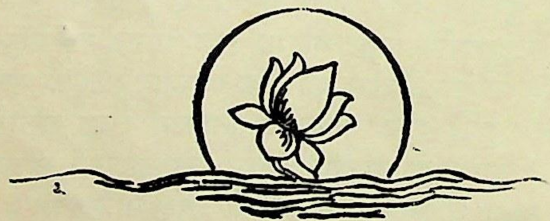
नम्र निवेदन

'कल्याण' के अधिकांश २८ वें और २९ वें वर्षमें प्रकाशित मेरे लेखोंको संशोधन करके इस पुस्तकमें संगृहीत किया गया है । इनमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, व्यावहारिक, नैतिक, धार्मिक, पारमार्थिक आदि उन्नतिका विषय भी दिया गया है, जो मनुष्यमात्रके लिये लाभदायक है तथा स्त्रियोंको घरवालोंके साथ परस्पर किस प्रकार त्यागपूर्वक व्यवहार करना चाहिये, यह भी बताया गया है । ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचार और मन-इन्द्रियोंके संयमकी बातें तो कल्याणकामी पुरुषोंके लिये इसमें पर्याप्त हैं । उत्तम गुण, उत्तम भाव, सत्पुरुषोंके सङ्ग, महिमा, गुण, प्रभाव एवं गीता-रामायण आदि अध्यात्मविषयक शास्त्रोंके स्वाध्याय आदिकी बातें भी लिखी हैं। दुखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा करनेसे मनुष्यकी शीघ्र उन्नति हो सकती है तथा गृहस्थाश्रममें रहकर किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये, यह भी बताया है । ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें श्रद्धा-विश्वास करनेसे शीघ्र कल्याण होनेकी बात बतायी गयी है। ईश्वरभक्ति-विषयमें गीताका तात्त्विक विवेचन भी किया गया है एवं भाइयोंको परस्पर किस प्रकार प्रेम-व्यवहार करना चाहिये, यह भी दिखाया गया है ।

कोई भी भाई या माता-बहिनें इसे पढ़कर लाभ उठावें, उनका मैं आभारी हूँ। पुस्तकमें त्रुटियाँ रहनी स्वाभाविक हैं, अतः इसमें जो भी त्रुटियाँ रही हों, उनके लिये विज्ञजन क्षमा करें और मुझे सूचना देनेकी कृपा करें ।

निवेदक—

जयदयाल गोयन्दका



श्रीहरिः

विषय-सूची

चित्र-सूची

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

मनुष्य-जीवनकी सफलता

श्रीनारद और श्रीविष्णुपुराणके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

श्रीबृहन्नारदीयपुराण अथवा श्रीनारदपुराणके नामसे जो मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिके अतिरिक्त प्रायः सभीमें लगभग ४२ अध्याय ही मिलते हैं। ये अध्याय श्रीवेंकटेश्वरप्रेसकी प्रतिमें भी ग्रन्थके आरम्भसे ही कुछ साधारण पाठ-भेदके साथ ज्यों-के-त्यों आये हैं। अन्यान्य कुछ प्रतियोंमें वक्ता नारद हैं पर इसमें नारद प्रश्नकर्ता हैं और वक्ता सनकादि हैं। इस नारदपुराणमें वर्णित पुराण-विषय-सूचीके अनुसार यह पचीस हजार श्लोकोंका बताया गया है, परंतु श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी मुद्रित प्रतिमें भी पचीस हजार श्लोक नहीं मिलते।

इस नारदपुराणके पूर्वभागमें श्रीसनकादि मुनियोंके द्वारा श्रीनारदजीके प्रति अनेकों प्रकारके उपदेश दिये गये हैं, जिसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, उपासना आदि आध्यात्मिक विषय तो प्रचुर मात्रामें हैं ही, साथ ही वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष (गणित, जातक, संहिता) और छन्द इत्यादि लौकिक ज्ञानके सम्बन्धमें भी संक्षेपमें बड़ा ही सारगर्भित तथा उपयोगी विवेचन है। उसमें बहुत-सी बातें सीखनेयोग्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

नारदपुराणके पूर्वभागके सातवें अध्यायमें गङ्गावतरणके प्रसङ्गमें श्रीसनकजीने सूर्यवंशीय राजा बाहुका एक विचित्र चमत्कारपूर्ण इतिहास कहा है। उसमें अध्यात्मशिक्षाके साथ ही सत्सङ्गका भी बड़ा सुन्दर प्रकरण है। इस प्रसङ्गमें सत्पुरुषोंकी जैसी अतुलनीय महिमा मिलती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं देखी गयी। यह प्रसङ्ग सबके लिये ध्यान देने योग्य है।

राजा बाहु अपने धर्माचरणके प्रभावसे परम ऐश्वर्यसम्पन्न हो गये थे; किंतु एक समय उनके मनमें असूयादोषके कारण बड़ा भारी अहंकार उत्पन्न हो गया, जिससे वे अत्यन्त उद्दण्ड हो गये; तब हैहय और तालजङ्घ-कुलके क्षत्रिय उनके शत्रु बन गये तथा उन्होंने आक्रमण करके राजाको युद्धमें परास्त कर दिया। राजा अत्यन्त दुखी होकर अपनी गर्भवती पत्नीके साथ वनमें चले गये। बहुत समय बीतनेके बाद वनमें ही और्व मुनिके आश्रमके निकट रोगग्रस्त होकर राजा बाहु संसारसे चल बसे, तब गर्भवती होनेपर भी उनकी पत्नीने चितापर पतिके साथ जलकर सती होनेका विचार किया। इसी बीचमें परम बुद्धिमान् महान् तेजोनिधि महात्मा और्व मुनि वहाँ आ पहुँचे और रानीको चितापर चढ़नेके लिये उद्यत देख उन्होंने बड़े सौम्य शब्दोंमें समझाते हुए कहा—'राजपुत्री! तू निश्चय ही पतिव्रता है, किंतु चितापर चढ़नेका साहसपूर्ण कार्य न कर; क्योंकि तेरे गर्भमें चक्रवर्ती बालक है तथा गर्भवती नारीके लिये चितारोहणका निषेध है।'

और्व मुनिके समझानेपर पतिव्रता रानी चितारोहणसे निवृत्त हो गयी और पतिके चरणोंमें पड़कर विलाप करने लगी; तब

सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता महात्मा और्वने रानीसे कहा—'महाभागे ! तू रो मत, इस समय तुझे अपने स्वामीके मृतक शरीरका दाह-संस्कार करना उचित है; अतः शोक त्यागकर समयोचित कार्य कर। पण्डित हो या मूर्ख, दरिद्र हो या धनवान् तथा दुराचारी हो या सदाचारी—सबपर मृत्युकी समान दृष्टि है। नगरमें हो या वनमें, जिस जीवने जो कर्म किया है, उसे उसका फल-भोग अवश्य करना पड़ता है। जैसे दुःख बिना ही बुलाये प्राणियोंके पास चले आते हैं, उसी प्रकार सुख भी आ सकते हैं—ऐसा मेरा मत है। इस विषयमें प्रारब्ध ही प्रबल है। अतः तू इस दुःखको त्याग दे और विवेकके द्वारा धैर्य धारण करके सुखी हो जा।'

यों कहकर मुनिने उसके द्वारा दाह-सम्बन्धी सब कार्य करवाये। फिर रानीने शोक त्याग दिया और मुनीश्वरको प्रणाम करके कहा—'भगवन् ! आप-जैसे संत दूसरोंकी भलाईकी ही अभिलाषा रखते हैं—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंकी प्रसन्नतासे प्रसन्न होता है, वह नररूपधारी जगदीश्वर नारायण ही है। संत पुरुष दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिये शास्त्र सुनते हैं और अवसर आनेपर सबका दुःख दूर करनेके लिये ही शास्त्रोंके वचन कहते हैं। जहाँ संत रहते हैं, वहाँ वैसे ही दुःख नहीं सताता, जैसे सूर्यके रहनेके स्थानमें अन्धकार नहीं रह सकता।'

तदनन्तर रानीने वहाँ तालाबके किनारे विधिपूर्वक पतिकी अन्यान्य पारलौकिक क्रियाएँ कीं—तिलाञ्जलि आदि दीं। उस समय वहाँ महात्मा और्व मुनिके उपस्थित रहनेके कारण एक बड़ी

अद्भुत घटना घटित हुई । राजा बाहु महान् तेजसे प्रकाशित दिव्यरूप होकर चितासे निकले और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मुनीश्वर और्वको प्रणाम करके परम धामको चले गये । महान् पुरुषोंके ऐसे अद्भुत प्रभावका वर्णन करते हुए श्रीसनकजी कहते हैं—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः ।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः ॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम ।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम् ॥

(ना० पूर्व० ७ । ७४-७५)

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ती है, वे महापातक या उपपातकसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं । पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृतक शरीरको, शरीरके भस्मको अथवा उसके धुएँको भी देख लें तो वह मृतक मनुष्य परम गतिको प्राप्त हो जाता है ।' महापुरुषोंकी महिमाका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है । अस्तु !

फिर, पतिका श्राद्धकर्म करनेके बाद रानी और्व मुनिके आश्रमपर चली गयी और समयपर इसी छोटी रानीके गर्भसे पुराणप्रसिद्ध राजा सगरकी उत्पत्ति हुई ।

श्रीनारदपुराणके उत्तरभागमें महर्षि वशिष्ठजीने नृपश्रेष्ठ मान्धाताके प्रति प्रधानतया एकादशी-व्रत और विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन किया है । वहाँ एकादशीके माहात्म्य-वर्णनमें विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गदका बड़ा सुन्दर अत्यन्त विचित्र इतिहास है । वे सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा थे । वे भगवद्भक्त तो थे ही, सदा एकादशी-

व्रतके पालनमें तत्पर रहते थे। वे एकादशीके दिन हाथीपर नगाड़ा रखकर बजवाते और सब ओर यह घोषणा कराते थे कि 'आज एकादशी तिथि है। आजके दिन आठ वर्षसे अधिक और पचासी वर्षसे कम आयुवाला जो मन्दबुद्धि मनुष्य भोजन करेगा, वह कोई भी क्यों न हो, दण्डनीय होगा अथवा उसे नगरसे निर्वासित कर दिया जायगा।' राजाके इस प्रकार घोषणा करानेपर सब लोग एकादशी-व्रत करके भगवान् विष्णुके परम धाममें जाने लगे। यों उस चक्रवर्ती राजाके राज्यमें जो लोग भी मृत्युको प्राप्त होते थे, वे पातकशून्य होकर भगवान् विष्णुके परम धाममें चले जाते थे। पापियोंके अभावसे यातना प्रदान करनेवाले सम्पूर्ण नरक सूने हो गये, यमराजका विभाग सर्वथा कार्यरहित हो गया।

इनसे भी बढ़कर कीर्तिमान् नामक एक चक्रवर्ती राजा हुए हैं, जिनका सारे भूमण्डलपर शासन था। उनके विषयमें स्कन्द-पुराणके वैष्णवखण्डमें इस प्रकार वर्णन मिलता है कि वे महान् विष्णुभक्त थे। उनके सदुपदेशसे समस्त प्रजा सदाचार और भक्तिसे पूर्ण हो गयी। उनकी भक्ति और पुण्यके प्रभावसे यमराजके यहाँ जो पहलेके प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और वर्तमानमें मरनेवाले सब लोग परमगतिको प्राप्त होने लगे। इससे नये प्राणियोंका यमलोकमें जाना ही बंद हो गया। इस प्रकार यमलोक बिल्कुल सूना हो गया। तब यमराजने जाकर ब्रह्माजीसे कहा। ब्रह्माजी उन्हें साथ लेकर श्रीविष्णुभगवान्के पास गये। दोनोंने भगवान्को प्रणाम किया। फिर ब्रह्माजी बोले—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्के प्रभावसे सब मनुष्य अविनाशी-पदको प्राप्त हो रहे हैं, इससे यमलोक सूना हो गया है।' तब भगवान् विष्णुने हँसते हुए कहा—'जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया

है, जो मुझमें तन्मय हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ ? राजा कीर्तिमान्‌को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमेंसे आठ हजार वर्ष बीत चुके हैं। शेष आयु और बीत जानेपर उन्हें मेरा सायुज्य प्राप्त होगा। जबतक ये धर्मात्मा भक्त राजा कीर्तिमान् जीवित हैं, तबतक तो ऐसा ही होगा; परंतु संसारमें सदा ऐसा चलता नहीं।'

ऐसे-ऐसे महान् पुण्यवान् तथा तेजस्वी श्रेष्ठ राजा हमारे इस भारतवर्षमें हो चुके हैं। जबतक इस पृथ्वीपर राजा कीर्तिमान् रहे, तबतक सभी मनुष्योंका उद्धार होता रहा, कोई भी यमलोकमें नहीं गया; किंतु फिर भी सब जीवोंका उद्धार नहीं हुआ। पर जब उद्धारका मार्ग खुला है और एक जीवका भी कल्याण होता है; तब सब जीवोंका भी कल्याण हो ही सकता है, यह न्याय है। सबके कल्याणके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके सुन्दर वाक्य भी मिलते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥*

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी दुःखका भागी न बने।'

यदि सबके कल्याणकी बात असम्भव होती तो ऐसे वाक्य क्योंकर कहे जाते। यदि कहें कि 'जब सबका कल्याण आजतक नहीं हुआ तो अब कैसे हो सकता है।' तो ऐसा कथन नहीं

* श्रीगरुड़पुराणमें यह श्लोक इस प्रकार मिलता है—

सर्वेषां मङ्गलं भूयात्सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

(उत्तरखण्ड ३५। ५१)

बनता; क्योंकि जब एकका कल्याण हो सकता है, तब हजारका भी हो सकता है, लाखका भी हो सकता है एवं सबका भी हो सकता है; यह न्याययुक्त और युक्तिसङ्गत बात है । इसका विरोध नहीं किया जा सकता । एक मनुष्य लाखों-करोड़ों जन्मोंसे संसार-चक्रमें भटकता हुआ आ रहा है, उसकी मुक्ति आजतक नहीं हुई, तो भी साधन करनेसे उसकी मुक्ति हो सकती है; क्योंकि साधनद्वारा मुक्ति होती है, इस विषयमें सभी शास्त्र सहमत हैं । फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'लाखों-करोड़ों ब्रह्मा बीत गये, अभीतक सबकी मुक्ति नहीं हुई तो अब भी नहीं हो सकती ।' हमारा यह कथन अयुक्त और शास्त्रविरुद्ध होगा; क्योंकि यदि मुक्ति नहीं होती तो उसके लिये लोग प्रयत्न क्यों करते तथा शास्त्रोंमें जो भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि साधनोंद्वारा मुक्ति बतलायी गयी है, वह भी अप्रमाणित होती; फिर ऐसे अनेकों उदाहरण भी मिलते हैं । ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव, वामदेव, अम्बरीष आदि अनेक पुरुष मुक्त हुए हैं । इसलिये यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक पुरुष मुक्त हो सकता है, तब हजारों, लाखों, करोड़ों भी मुक्त हो सकते हैं । इस न्यायसे सभी मुक्त हो सकते हैं । अतः जो बात आजतक नहीं हुई, वह भविष्यमें नहीं हो सकती, ऐसा कहना अयुक्त है ।

आर्ष ग्रन्थोंमें कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि सबका कल्याण नहीं हो सकता, तब फिर सबका कल्याण नहीं हो सकता—ऐसा हम किस आधारपर मानें । यदि कहें कि 'जब राजा कीर्तिमान्-जैसे धर्मात्मा भक्त भी सबका उद्धार नहीं कर सके तो दूसरा कौन कर सकता है?' तो यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि यह तो

शास्त्रमें कहीं नहीं कहा गया कि जो कार्य राजा कीर्तिमान् नहीं कर सके, वह दूसरेके द्वारा भी नहीं हो सकेगा। यदि कीर्तिमान्से भी बढ़कर परम दयालु, परम उदार, निष्कामी प्रेमी भक्त हों तो सबका उद्धार हो सकता है। इस विषयमें एक कहानी है—

एक निष्कामी प्रेमी भगवद्भक्त था। उसकी भक्तिके प्रभावसे भगवान्ने उसको प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो।' भक्तने उत्तर दिया—'मुझे किसी बातकी इच्छा नहीं है।' फिर भगवान्ने बार-बार आग्रह किया—'तुम्हें कोई इच्छा नहीं है, तब भी हमारे संतोषके लिये तुम्हारी इच्छा हो वही वर माँग सकते हो।' विशेष आग्रह करनेपर भक्तने कहा—'प्रभो! ऐसी ही बात है तो जीवमात्रका उद्धार कर दीजिये।' भगवान्ने कहा—'सबके पाप समाप्त हुए बिना सबकी मुक्ति नहीं हो सकती। इनके पापोंको कौन भोगेगा?' भक्त बोला—'प्रभो! सबके पापोंका दण्ड मैं अकेला भोग लूँगा। आप सबको मुक्त कर दीजिये।' भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम मेरे भक्त हो; इसलिये सबके पापोंका फल तुमको कैसे भुगताया जा सकता है?' भक्तने कहा—'ऐसा न करें तो सबके पापोंको माफ कर दीजिये।' भगवान् बोले—'ऐसा सम्भव नहीं है।' भक्तने कहा—'असम्भव भी तो नहीं है; क्योंकि जब एककी मुक्ति होती है, तब इसी न्यायसे सबकी भी हो सकती है। फिर आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, आपके लिये तो कुछ भी असम्भव है ही नहीं; क्योंकि आप सर्वशक्तिमान् हैं, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' हैं। आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं।' भगवान् बोले—'वत्स! तुम्हारा कथन ठीक है; किंतु

मैं ऐसा नहीं कर सकता, इसके लिये मैं लाचार हूँ।' भक्तने कहा—'भगवन्! यदि आप नहीं कर सकते तो फिर आपने आग्रह करके यह क्यों कहा कि तुम अपने इच्छानुसार वर माँग लो? आपको यही कहना उचित था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा, दीर्घायु, स्वर्ग या मुक्ति माँग लो।' इसपर भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम्हारा कहना ठीक है। तुम्हारी विजय हुई और हम हारे।' भक्तने कहा—'इसमें मेरी विजय क्या हुई, मेरी विजय तो तब होती, जब आप सबका कल्याण कर देते।' भगवान्ने कहा—'सबका कल्याण तो सम्भव नहीं; किंतु मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, स्मरण तथा नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है; तुम बड़े दयालु और उदारचित्त निष्कामी प्रेमी भक्त हो, इसलिये तुम्हारे भी दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो जायगा।' भक्तने इस बातको स्वीकार कर लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि सबका भी कल्याण हो सकता है; किंतु भक्त अनन्यप्रेमी, परम श्रद्धावान्, परम निष्कामी, उदारचित्त, सबका परम हित चाहनेवाला और परम दयालु होना चाहिये।

× × × ×

श्रीविष्णुपुराणमें नारदपुराणोक्त सूचीके अनुसार तेईस हजार श्लोक बताये गये हैं; किंतु मुद्रित प्रतियोंके छहों अंशोंमें तेईस हजार श्लोक नहीं मिलते।

इस विष्णुपुराणके छठे अंशमें एक विशेष ध्यान देने योग्य

प्रसङ्ग है। श्रीवेदव्यासजीने कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको 'श्रेष्ठ तथा अति धन्य' बतलाया है। पराशरजी कहते हैं—

मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रः साधुः कलिः साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥

(६। २। ६, ८)

'उस समय गङ्गाजीमें डुबकी लगाये मेरे पुत्र व्यासने जलसे निकलकर उन मुनिजनोंके सुनते हुए यह वचन कहा कि 'कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही श्रेष्ठ है।' यह कहकर वे महामुनि फिर जलमें मग्न हो गये और फिर जलसे निकलकर बोले—'स्त्रियाँ ही श्रेष्ठ हैं, वे ही धन्य हैं; उनसे अधिक धन्य और कौन है?'

कलियुगको धन्य और श्रेष्ठ कहनेका कारण तो यह है कि इसमें केवल भगवन्नाम-गुण-कीर्तन तथा बहुत ही थोड़े प्रयाससे मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है।

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(विष्णुपु० ६। २। ४०)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ह मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
(१२ । ३ । ५१)

'परीक्षित् ! यह कलियुग दोषोंकी निधि है; परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है । वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह कलियुगकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है । इतना ही नहीं, सत्ययुगमें दस वर्षोंतक ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और भगवन्नाम-जप आदिसे जो आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वह कलियुगमें एक दिन-रातमें हो सकती है । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् ॥
(विष्णुपु० ६ । २ । १५-१६)

'हे द्विजगण ! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है ।'

स्कन्दपुराणमें भी कहा है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे ।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः ॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे ।

(ब्राह्म० सेतु० ४३ । ३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य लाभ किया जाता है, उसी पुण्यको त्रेतायुगमें मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं और वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें ही प्राप्त किया जा सकता है ।'

सत्ययुगकी अपेक्षा कलियुगमें थोड़े समयमें ही कल्याण हो जाता है, इसके सिवा उसमें सुगमता भी है । सत्ययुगमें ध्यान करनेसे जो परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि होती है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके जप-कीर्तनसे ही हो जाती है ।

श्रीवेदव्यासजीने बतलाया है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः ॥

(विष्णुपु० ६ । २ । १७-१८)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है । हे धर्मज्ञगण ! कलियुगमें थोड़े-से परिश्रमसे ही पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैं कलियुगसे अति संतुष्ट हूँ ।'

श्रीमद्भागवतमें भी इसी प्रकार आता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(१२।३।५२)

'सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।'

कहीं-कहीं तो यहाँतक भी मिल जाता है कि कलियुगमें भगवान्‌के भजनके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती; किंतु हमलोगोंको कम-से-कम यह तो मान ही लेना चाहिये कि अन्य साधनोंकी अपेक्षा यह भक्तिका साधन सुगम और श्रेष्ठ है तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनका फल अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें अधिक है और यह भी मान लेना चाहिये कि इसमें परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे तथा अल्पकालमें ही हो सकती है। श्रीपराशरजी कहते हैं—

तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम्।
करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः॥
(विष्णुपु० ६।१।६०)

'सत्ययुगमें तपस्यासे जो उत्तम पुण्यराशि प्राप्त की जाती है, उसको मनुष्य कलियुगमें थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही प्राप्त कर सकता है।'

स्कन्दपुराणमें भी बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम् ।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः ॥

(माहेश्वर० कुमा० ३५ । ११५)

'यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो ! कलिकालमें थोड़े ही समय साधन करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ।'

इस समय हमलोग कलियुगमें विद्यमान हैं, अतः हमलोगोंको भगवत्कृपासे यह सुअवसर प्राप्त हो गया है । अब हमें इस अवसरसे कभी नहीं चूकना चाहिये । हमें उचित है कि भगवान्के नाम और गुणोंका स्मरण तथा भगवान्के नामका जप और कीर्तन केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे ही निष्कामभावपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसहित नित्य-निरन्तर करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करें । अन्य कार्य हों या न हों अथवा अन्य कार्योंमें कोई बाधा भी आ जाय तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है । मनुजीने भी कहा है—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

(मनु० २ । ८७)

'ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्धि पा लेता है, इसमें कोई संदेह नहीं है । वह अन्य कुछ करे या न करे, (ऐसा वह) ब्राह्मण सबका मित्र कहा जाता है ।'

यद्यपि यहाँ यह बात ब्राह्मणके लिये कही गयी है; किंतु शास्त्रोंका उद्देश्य ब्राह्मणको अग्रसर करके ही सबको धर्मका उपदेश

देनेका रहता है, इस कारण यह सभीके लिये लागू पड़ता है।

अब इसपर विचार करें कि शूद्र श्रेष्ठ और धन्य क्यों हैं?

शूद्रोंके लिये तो शास्त्रोंमें बहुत ही सुविधा दी गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—यज्ञ, दान, वेदाभ्यास और ब्रह्मचर्यपालन आदि स्वधर्मोंका पालन करके बड़ी कठिनाईसे उत्तम गति प्राप्त करते हैं; किंतु शूद्र केवल उन तीनों वर्णोंकी सेवामात्रसे अनायास ही उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः॥
जयन्ति ते निजाँल्लोकान् क्लेशेन महता द्विजाः॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान्।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः॥

(६।२।१९, २२, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरणसे उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं। द्विजगण! इस प्रकार वे अत्यन्त क्लेशसे अपने उत्तम लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र द्विजोंकी सेवा करके ही अपने उत्तम लोकोंको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है।'

इसलिये शूद्रोंको ऐसा अवसर पाकर सबकी सेवा करके विशेष लाभ उठाना चाहिये ।

कोई भी शुभकर्म हो, यदि निष्कामभावसे किया जाय तो उससे तुरंत मुक्ति हो जाती है । कर्मोंके फलका, उन कर्मोंकी और विषयोंकी आसक्तिका एवं अभिमानका त्याग करके समतापूर्वक शास्त्र-विहित सम्पूर्ण कर्मोंके करनेका नाम ही कर्मयोग है । इस प्रकारके योगके साधनसे मनुष्यकी मुक्ति शीघ्र ही हो जाती है ।

भगवान् कहते हैं—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

(गीता ५ । ६)

'कर्मयोगी मुनि ब्रह्मको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ।'

यदि सबको भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी सेवा की जाय तो वह भक्तिप्रधान कर्मयोग होनेके कारण उच्चकोटिका सर्वश्रेष्ठ निष्कामकर्म है । भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

इसलिये अपने-अपने स्वाभाविक शास्त्रोक्त कर्मोंके अनुसार सेवा

करनेका तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंके लिये भी विधान है; क्योंकि इसी उद्देश्यसे भगवान्‌ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ४२, ४३ और ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये उनके पृथक्-पृथक् स्वधर्मरूप कर्मका प्रतिपादन किया है एवं सभीके लिये सबमें भगवद्‌बुद्धि करके अपने-अपने कर्मोंद्वारा उनकी सेवारूप पूजा करनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलायी है ।

शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा करना मुख्य है; क्योंकि उनकी आजीविकाका कर्म भी सेवा ही है । इसलिये दूसरे वर्णवालोंका अपनी आजीविकाके लिये तीनों वर्णोंकी सेवारूप कर्म करनेका अधिकार नहीं है; किंतु आपत्तिकालमें तो अपनेसे समान और उच्च वर्णवालोंकी सेवा सभी कर सकते हैं । जैसे—वैश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी तथा क्षत्रिय ब्राह्मण और क्षत्रियकी सेवा कर सकता है । स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक ईश्वर-बुद्धिसे तो सभी लोग सभीकी सेवा कर सकते हैं ।

आजकल लोग जो यह कहते हैं कि ब्राह्मणोंने शूद्रोंको पददलित करके नीचे गिरा दिया, यह उनकी भूल है । जिन्होंने शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा कह सकते हैं । शास्त्रोंमें जो स्वधर्मपालनको सबसे बढ़कर बतलाया है और उसका फल उत्तम गतिकी प्राप्ति कहा गया है, वह ब्राह्मणोंकी अपेक्षा शूद्रके लिये बहुत ही सुगम है । इसी दृष्टिसे श्रीवेदव्यासजीने शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने उच्च वर्णके अभिमानसे शूद्रोंको तुच्छ समझकर यदि उनकी अवज्ञा करते हैं, तो यह उनकी गलती

है; क्योंकि सबमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिये कोई भी मनुष्य किसीकी अवज्ञा और तिरस्कार करता है तो वह भगवान्‌का ही अपमान और तिरस्कार करता है। अतः सभी मनुष्योंको उचित है कि अपनेसे निम्न वर्णवालोंकी अवज्ञा कभी न करें; अपितु उन्हें श्रेष्ठ और धन्य समझकर उनका यथायोग्य सम्मान करें; क्योंकि शास्त्रोंमें शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है तथा स्वाभाविक ही उन शूद्रोंमें उच्चजातिका अभिमान नहीं रहता। अभिमान किसी भी प्रकारका क्यों न हो, अभिमानमात्र ही मुक्तिमें बाधक है।

अब विचार करते हैं कि 'स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य कैसे हैं?' धर्मका पालन और उत्तम लोकोंकी तथा परम गतिकी प्राप्ति स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा शीघ्र और अनायास ही हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा।
प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि॥
तस्यार्जने महाक्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः।
तथासद्विनियोगेन विज्ञातं गहनं नृणाम्॥
एवमन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः।
निजान् जयन्ति वै लोकान् प्राजापत्यादिकान् क्रमात्॥
योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥

(विष्णुपु० ६। २। २५—२९)

'हे द्विजोत्तमगण ! पुरुषोंको अपने धर्मानुकूल प्राप्त किये हुए धनसे ही सर्वदा सुपात्रको दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये। इस द्रव्यके उपार्जन तथा रक्षणमें महान् क्लेश होता है और उसको पापकार्यमें लगानेसे पुरुषोंको जो दुःख भोगना पड़ता है, वह कठिनाई मालूम ही है। विप्रवरो ! इस प्रकार पुरुषगण इन तथा ऐसे ही अन्य कष्टसाध्य उपायोंसे क्रमशः अपने प्राजापत्य आदि शुभ लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु स्त्रियाँ तो केवल तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करनेसे ही उनकी हितकारिणी होकर पतिके समान शुभ लोकोंको, जो पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं, अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिये हे ब्राह्मणो ! मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।'

इसी प्रकार शास्त्रोंमें सभी जगह यह प्रसिद्ध है कि पतिकी सेवामात्रसे ही स्त्री परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें कहा है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

—इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियोंको केवल पतिकी सेवामात्रसे ही बिना ही परिश्रम और सुगमतासे परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, वह पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे अपने पतिको भी परमधाममें ले जाती है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें आया है कि शुभा नामकी पतिव्रता स्त्री पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई पति-सहित भगवान्‌के परम धामको चली गयी। उसके सम्बन्धमें स्वयं

भगवान्‌ने यह कहा है कि शुभा पतिव्रता मेरे समान है, वह अपने सतीत्वके प्रभावसे ही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानती है ।

पद्मपुराणके भूमिखण्डमें वर्णन आता है कि कृकल वैश्यकी पत्नी सुकलाको उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र आदि देवताओंने साक्षात् दर्शन देकर वर माँगनेको कहा था । उस समय कृकलने पूछा—'देवताओ ! आपलोग मेरे किस पुण्यके कारण पत्नीसहित मुझे वर देने पधारे हैं ।' तब इन्द्रने कहा—'हमलोग तुम्हारी धर्मपत्नी सती सुकलाके पातिव्रत्यसे संतुष्ट होकर तुम्हें वर देना चाहते हैं ।' सुकलाके सदाचारका माहात्म्य सुनकर उसके पति कृकल बड़े हर्षित हुए । तत्पश्चात् उन दोनोंके द्वारा भगवान्‌की भक्ति और धर्ममें अनुराग-प्राप्तिका वर माँगनेपर देवतागण उन्हें अभीष्ट वर देकर पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये ।

यदि कहें कि 'पति महान् नीच और नरकमें ले जाने योग्य पापकर्म करनेवाला है तथा उसकी स्त्री पतिव्रता है तो वह स्त्री पतिके साथ नरकमें जायगी या उत्तम गतिको प्राप्त होगी ?' तो इसका उत्तर यह है कि पातिव्रत्य-धर्मके पालनके प्रभावसे वह अपने पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होगी । उस स्त्रीके पातिव्रत्यके प्रभावसे उसका पति भी शुद्ध और परम पवित्र हो जायगा । पातिव्रत्य-धर्मका पालन करनेवाली स्त्रीकी दुर्गति तो कभी हो ही नहीं सकती और पतिसे उसका वियोग भी नहीं होता । ऐसी परिस्थितिमें उसका पति

ही उसके प्रभावसे परम पवित्र हो जाता है और वह अपनी पत्नी-सहित उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

इसीलिये महामुनि वेदव्यासजीने स्त्रियोंको श्रेष्ठ कहा है और उनको अतिशय धन्यवाद दिया है। अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको ऐसा स्वर्ण-अवसर कभी हाथसे नहीं जाने देना चाहिये, अपि तु मन, वचन, कर्मसे अपने पातिव्रत्य-धर्मका तत्परतासे पालन करके अपनी आत्माका कल्याण शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये; अन्यथा यदि यह अवसर हाथसे चला जायगा तो महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा; क्योंकि स्त्रीजातिके कल्याणके लिये भगवान्‌ने यह बहुत ही उत्तम और सरल उपाय बताया है।

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा गायी गयी है। वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं। उनका रचयिता कोई नहीं है। श्रीवेदव्यासजी भी इनके संकलनकर्ता ही माने गये हैं। इसीलिये वेदोंके बाद पुराणोंका ही हमारे यहाँ सबसे अधिक सम्मान है। पुराणोंमें लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके अनेक महत्त्वपूर्ण साधनोंका वर्णन मिलता है, जिनको पढ़-सुनकर और फिर अनुष्ठानमें लाकर मनुष्य परम पदतक प्राप्त कर सकता है। अतएव जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेका विधान है, उसी प्रकार पुराणोंका पठन-श्रवण और मनन भी सबको नित्य करना चाहिये।

सब प्रकारकी उन्नति

मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करे। अतएव पहले यह विचार करना है कि उन्नति क्या वस्तु है और उसका प्राथमिक और अन्तिम स्वरूप क्या है तथा संक्षेपमें उसके कितने प्रकार हैं। हमारे शास्त्रकारोंने यह निर्णय किया है कि एक धर्म ही समस्त उन्नतियोंका केन्द्र है। इसीलिये संक्षेपमें धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन)

'जिससे अभ्युदय (सर्वविध उन्नति) और निःश्रेयस (परम कल्याण—मोक्ष) की सिद्धि हो, वह धर्म है।' इससे यह सिद्ध होता है, लौकिक उन्नतिसे लेकर पारमार्थिक उन्नतितक सभी इस धर्मके अन्तर्गत हैं। अब यहाँ संक्षेपसे उसके प्रकारोंपर विचार करें। मेरी समझसे आरम्भसे अन्ततक इसके दस प्रकार बताये जा सकते हैं—

१. शारीरिक उन्नति।

२. भौतिक उन्नति।

३. ऐन्द्रियिक उन्नति।

४. मानसिक उन्नति।

५. बौद्धिक उन्नति।

६. सामाजिक उन्नति ।

७. व्यावहारिक उन्नति ।

८. नैतिक उन्नति ।

९. धार्मिक उन्नति ।

१०. आध्यात्मिक उन्नति ।

अलग-अलग प्रकार बतलानेपर भी यह तो मानना ही होगा कि इन सबका सम्बन्ध यथार्थ आत्मकल्याणसे ही होना चाहिये । जिससे आत्माका यथार्थ कल्याण न होकर पतन या अहित होता है, वह तो उन्नति ही नहीं है । अब इनपर अलग-अलग विचार करें ।

'शारीरिक उन्नति'का यह अभिप्राय नहीं कि केवल शरीरमें खूब बल हो, शरीर खूब मोटा-ताजा हो और वह विषयोपभोगसे न थकता हो । इस प्रकारकी शारीरिक स्थिति तो असुरों और राक्षसोंको भी प्राप्त थी । वे नित्य भोगपरायण रहते थे और अपने सबल और सुपुष्ट शरीरसे अन्यान्य प्राणियोंके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते, उन्हें कष्ट पहुँचाते और उन्हें मार-काटकर अपने शरीरका पोषण और सुख-सम्पादन करते थे । यह वस्तुतः शारीरिक उन्नति नहीं, यह तो पतन है । शारीरिक उन्नति तो उसको कहते हैं, जिसमें शरीर स्वस्थ हो, नीरोग हो, परिश्रमशील हो, दूसरोंकी सेवा करनेमें सदा तत्पर हो, सेवासे कभी थकता न हो और दुखियोंका दुःख दूर करनेमें समर्थ हो तथा ऐसे सात्त्विक शुद्ध पदार्थोंसे ही जिसका संरक्षण और भरण-पोषण होता हो, जो अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक हों, इन्द्रियोंमें सात्त्विकता पैदा करनेवाले हों, सात्त्विक मन और बुद्धिका

निर्माण और वृद्धि करनेवाले हों एवं सात्त्विक बल, तेज, ओज और आरोग्य बढ़ानेवाले हों। भगवान्‌ने ऐसे सात्त्विक पदार्थोंका गीतामें दिग्दर्शन कराया है। वे कहते हैं——

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय— ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

इस प्रकार शरीरको उन्नत बनाना चाहिये। वस्तुतः वही यथार्थ उन्नति है, जो परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक हो। शरीरकी जिस उन्नतिमें जीवोंकी हिंसा हो, अपवित्र वस्तुओंका सेवन होता हो, वह तो तामसिक है, वह तो हमारा पतन है।

'भौतिक उन्नति' शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति व्यापक है। जैसे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंको अधिक-से-अधिक प्राणियोंके लिये उपयोगी बनाना—यह वास्तविक भौतिक उन्नति कहलाती है। वर्तमानमें जिसे 'भौतिक विज्ञान' या 'साइंस' कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है, वह वास्तविक भौतिक उन्नति नहीं है। इस विज्ञानके जानकार वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनकी

यह उन्नति आंशिक उन्नति ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति प्रकारान्तरसे इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। आजकल हम साधारण-सी ऐसी उन्नतिको देखकर चकाचौंधमें पड़ जाते हैं; किंतु थोड़ी गम्भीरतासे विचार करके देखिये। आज एक छोटे-से वायुयानको देखकर हम आश्चर्य करने लगते हैं कि देखो, ये आकाशमें उड़ने लगे! किंतु वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज लङ्काविजय करके जिस पुष्पकविमानसे अयोध्या आये थे; वह इतना विशाल था कि उसमें उनकी करोड़ोंकी संख्यावाली सारी वानरी सेना बैठकर आयी थी। अब आप विचार करें। आज दुनियाके सारे वायुयान इकट्ठे किये जायँ तो भी वानरोंकी उतनी बड़ी सेनाको शायद ही उनमें ले जाया जा सके।

त्रेताकी बात छोड़िये। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व एक शाल्व नामके राजा थे। उनके 'सौभ' नामक विमान था, जिसे 'सौभनगर' कहते थे। वह कभी आकाशमें उड़ा करता, कभी पृथ्वीपर आ जाता, कभी पहाड़ोंकी चोटियोंपर चढ़ जाता और कभी जलमें तैरने लगता तथा कभी सबमैरीनकी भाँति जलमें प्रवेश कर जाता। उसमें समस्त सेना रहा करती थी, वह बहुत ही बड़ा था। उस वायुयानको लेकर राजा शाल्वने द्वारकापर चढ़ाई की थी और उसने वहाँ वीर यादवोंके छक्के छुड़ा दिये थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बाणों और गदाके द्वारा उसको छिन्न-भिन्न करके समुद्रमें गिराया था। सोचिये, कितनी भारी शक्ति उस एक वायुयानमें थी। एक ही वायुयानमें वहीं न्यायालय हो, वहीं युद्धकी सारी सामग्री हो, आरामके

सारे सामान मौजूद हों और प्रजा भी उसमें बसती हो—यह कितने आश्चर्यकी बात है। ऐसा वायुयान आज संसारमें देखनेमें नहीं आता।

दूसरी बात लीजिये। आज एटम या हाइड्रोजन बमकी बात देख-सुनकर लोग चकित हो रहे हैं, एटम बम आदिके द्वारा हजारों-लाखों निर्दोष प्राणियोंको एक साथ मार दिया जाता है; किंतु आप हमारे इतिहासकी ओर थोड़ा ध्यान दें। महाभारतके वनपर्वमें लिखा है कि एक समय अर्जुनके साथ शिवजीका युद्ध हुआ था, उस युद्धसे शिवजी प्रसन्न हो गये। शिवजीने अर्जुनसे कहा कि 'तुम वरदान माँगो।' अर्जुनने कहा कि 'आप पाशुपत-अस्त्र मुझे दे दें।' शिवजीने पाशुपतास्त्र दे दिया और कहा कि 'इसे सहसा तुम चलाना मत। तुम इसे अपने पास रखना अपनी आत्माकी रक्षाके लिये। यदि इसे चला दोगे तो तीनों लोक भस्म हो जायँगे।'

कला-कौशल भी उस समय उच्च शिखरपर पहुँचा था। त्रिपुरासुर नामके तीन असुर थे। उन्होंने तीन पुर बसाये थे—एक पृथ्वीपर, एक स्वर्गमें और एक आकाशमें। उन तीनों पुरोंका कोई एक बाणसे नाश करे, तब वे असुर मरें—यह वरदान उन्हें मिला हुआ था। शिवजीने पाशुपतास्त्र चलाकर उन तीनों पुरोंका नाश किया था। एक तो आकाशमें पुर बसाना आश्चर्यकी बात है और दूसरी एक ही बाणसे तीनोंको नष्ट कर डालना यह और आश्चर्यकी बात है।

महाभारतके द्रोणपर्वमें लिखा है कि जब द्रोणाचार्य मर गये थे, तब उनका पुत्र अश्वत्थामा बहुत भयंकर क्रोध करके पाण्डवोंपर टूट पड़ा था। उस समय उसने 'नारायणास्त्र' चलाया था।

नारायणास्त्रकी बड़ी भारी शक्ति है। उसका प्रयोग करते ही आकाश से अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी। पाण्डव एकदम घबरा गये। पाण्डवोंके नाकमें दम आ गया। पाण्डवोंकी सेनाका बुरी तरह संहार होने लगा। भगवान् श्रीकृष्णजी जानते थे कि यह नारायणास्त्र है। बिना मारे नहीं छोड़ेगा। सारी सेनाको नष्ट कर डालेगा। पर वे उसके निवारणका उपाय भी जानते थे। उन्होंने कहा—'इसका एक ही उपाय है—आत्मसमर्पण कर देना। हथियार छोड़कर जमीन-पर खड़े हो हाथ जोड़कर स्थित हो जाना। फिर इसका असर तुम लोगोंपर नहीं होगा।' पाण्डवोंने ऐसा ही किया। अस्त्र तुरंत शान्त हो गया। दुर्योधनने अश्वत्थामासे कहा—'अश्वत्थामा! तुमने बड़ा प्रभावशाली अस्त्र चलाया। एक बार इसको फिर चलाओ।' अश्वत्थामा बोला—'मैं अब इसे दुबारा नहीं चला सकता। नारायणास्त्रका प्रतीकार है आत्मसमर्पण। जो आत्मसमर्पण कर देता है, उसपर इसका प्रभाव नहीं होता। आत्मसमर्पण करनेवालेपर यदि कोई इस अस्त्रका पुनः प्रयोग करता है तो उस प्रयोग करनेवालेको ही यह अस्त्र मार डालता है।' आप विचार कीजिये, अस्त्रोंमें कितना बड़ा विज्ञान था। एक अस्त्रको चलानेसे चाहे पाँच करोड़ सेना हो, चाहे दस करोड़, सब नष्ट हो जाती थी। पर ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग होता था युद्ध करनेवाली सेनापर, न कि निरपराधी निरीह नर-नारियों और बाल-वृद्धोंपर। हमारे देशकी ओर ध्यान दीजिये। नारायणास्त्र किसका? श्रीविष्णुका। पाशुपतास्त्र किसका? शिवजीका। ब्रह्मास्त्र किसका? ब्रह्माजीका। ऐसे महान् अस्त्र थे हमारे देशमें।

हमारे यहाँ पाँच भूतोंकी बड़ी भारी उन्नति हो गयी थी।

आठ प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन मिलता है, जिनमें चार मनसे सम्बन्ध रखनेवाली मानसिक सिद्धियाँ हैं और चार भूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली भौतिक सिद्धियाँ हैं। इन भौतिक सिद्धियोंके नाम हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा। मानसिक सिद्धियोंके नाम हैं—प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। अणिमाका अभिप्राय है—अणुके समान छोटा बन जाना। हनुमान्‌जी जब लङ्कामें प्रवेश करते हैं, तब मच्छर-जैसा रूप बना लेते हैं; यह 'अणिमा' सिद्धिका प्रभाव था और जब हनुमान्‌जी लङ्काको जा रहे थे, तब समुद्रको लाँघनेके समय उन्होंने महान् स्वरूप धारण कर लिया था। यह 'महिमा' सिद्धि केवल हनुमान्‌जीमें ही नहीं थी, सिंहिका नामकी राक्षसीमें भी थी, और भी राक्षसोंमें थी। घटोत्कचमें भी थी। जब घटोत्कच मरने लगा, तब वह अपने शरीरको बढ़ाने लगा। उसने सोचा कि जब मैं मरूँगा तो जितनी कौरवोंकी सेना है, सबको दबाकर मरूँगा। उस समय उसने इतना बड़ा शरीर धारण किया कि उसके गिरनेपर एक अक्षौहिणी कौरव-सेना उसके नीचे दबकर मर गयी। ऐसी-ऐसी विद्याएँ तो राक्षसोंमें थीं। मेघनादके युद्धमें देखा जाता है कि एक समय मेघनाद आकाशमें शिलाकी वर्षा कर रहा है। वह दीखता नहीं, अन्तर्धान हो रहा है। एक समय देखा जाता है कि चारों ओर मेघनाद-ही-मेघनाद हैं। यह भी एक अद्भुत सिद्धि ही थी। ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ थीं! इस प्रकार अणुके समान शरीर बना लेना 'अणिमा', महान् रूप धारण कर लेना 'महिमा', भारी रूप धारण कर लेना 'गरिमा' और हल्का रूप धारण कर लेना 'लघिमा' सिद्धि है। ये चारों भौतिक सिद्धियाँ हैं। मानसिक सिद्धियाँ चार हैं—

जिस चीजकी इच्छा करे, वही प्राप्त हो जाय, यह 'प्राप्ति' सिद्धि है। जिस समय यह कामना करे कि अमुक शत्रु मर जाय, उसी समय उसका मर जाना, यह 'प्राकाम्य' सिद्धि है। ईश्वरके समान सृष्टिकी रचना कर लेना 'ईशित्व' है, जैसे विश्वामित्रजीने अपने तपके बलसे रचना करना आरम्भ कर दिया था। किसीको अपने वशमें कर लेना, अधीन कर लेना 'वशित्व' सिद्धि है। इसके सिवा और भी अनेकों सिद्धियोंकी बात आती है।

आप श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें देखिये। जब भरत-जी महाराज चित्रकूट जा रहे थे और रास्तेमें उन्हें भरद्वाज ऋषिके यहाँ ठहरना पड़ा, तब श्रीभरद्वाज ऋषिने सिद्धियोंको बुलाकर क्षण मात्रमें सबके खाने-पीनेके लिये सारी सामग्री और रहनेके लिये मकान रच दिये। उनका पूरा आतिथ्य सिद्धियोंके द्वारा करवाया। आज संसारमें ऐसी सिद्धियाँ देखनेमें नहीं आतीं।

ध्यान दीजिये, युद्ध हो रहा है कुरुक्षेत्रमें और हस्तिनापुरमें भी बैठा हुआ संजय श्रीवेदव्यासजीकी दी हुई दिव्यदृष्टिके प्रभावसे युद्धकी क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनाको प्रत्यक्षवत् देख-सुनकर धृतराष्ट्रको सारी बातें बता रहा है। उसे वहाँकी सारी चीजें दीख रही हैं। वहाँ आपसमें जो बातें करते हैं, उन्हें भी संजय सुन रहा है और किसीके मनमें भी जो बात आती है, उसे भी संजय जान लेता है। उसका मन दिव्य हो गया, इन्द्रियाँ दिव्य हो गयीं। आप सोचिये, वह कैसी अद्भुत विद्या थी! इससे मालूम होता है कि उस समय भौतिक उन्नति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

हमलोगोंको भौतिक उन्नति भी वही करनी चाहिये, जिसमें किसीकी हिंसा न हो, किसीका अहित न हो। बम चलाकर निरपराध मनुष्योंको मार डालना यह कोई भौतिक उन्नतिकी महिमा नहीं है। भौतिक उन्नति वह होनी चाहिये, जिस उन्नतिसे सबकी सेवा बने' सब प्राणियोंका हित हो, सबको सुख मिले। जैसे भरद्वाज ऋषिने भौतिक उन्नतिसे सबकी सेवा की, इसी प्रकार भौतिक उन्नतिको काममें लाना चाहिये।

हमारी इन्द्रियोंमें अनेकों दोष भरे हुए हैं; जैसे वाणीमें कठोरता, मिथ्या-भाषण, व्यर्थ बकवाद, अप्रिय वचन, अहितकर वचन आदि। इसी प्रकार कानोंमें परनिन्दा सुनना, व्यर्थ वचन सुनना। जिह्वामें स्वादकी और त्वचामें स्पर्शकी लोलुपता। नेत्रोंमें परस्त्रीको देखना, दूसरेके दोष देखना एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें रागद्वेष आदि दोष भरे पड़े हैं—उनसे इन्द्रियोंको रहित करना, विषयोंसे इन्द्रियोंका संयम करना, उन्हें शुद्ध और दिव्य बनाना, विषयोंसे इन्द्रियोंकी वृत्ति हटाकर अपने वशमें करना—यह 'ऐन्द्रियिक उन्नति' है।

अब 'मानसिक उन्नति'के विषयमें विचार करें। मानसिक उन्नतिका अर्थ है—मनको उन्नत करना। सिद्धिके द्वारा दूसरेके मनकी बात जान लेना, यहाँ बैठे हुए ही सारे संसारकी बातोंको सिद्धियोंके द्वारा समझ लेना, दूरसे आग बुझा देना, मनोबलके द्वारा दूर बैठे ही रोग नाश कर देना, विष उतार देना, शत्रुता मिटा देना, मैत्री उत्पन्न कर लेना, मनके संकल्पका सत्य हो जाना, मनको अपने वशमें करना, मनको एकाग्र करना तथा संसारके पदार्थोंसे रोकना, मनके भीतर जो बहुत-से दुर्गुण, दुर्व्यसन और पाप हैं

उनको धो डालना, दया, करुणा, मैत्री, प्रेम, विराग, शान्ति आदि सद्भावों और सद्विचारोंसे युक्त होना, मनका विषय-चिन्तनसे रहित होकर आत्मचिन्तन या भगवच्चिन्तनपरायण होना आदि यह सब मानसिक उन्नति हैं। इस प्रकार हमें मानसिक उन्नति करनी चाहिये। मानसिक उन्नति वस्तुतः हमें यहाँतक करनी चाहिये कि जिससे हमारी वास्तविक उन्नति होकर हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। जिसमें आत्माकी महान् उन्नति हो, जो परमात्माकी प्राप्तिमें परम सहायक हो, वही वास्तविक मानसिक उन्नति है। जो मानसिक उन्नति प्राणियोंको कष्ट देनेवाली हो, दूसरेके हितका नाश करनेवाली हो, जिसमें आत्माका पतन हो, वह मानसिक उन्नति नहीं, अवनति है।

इसी प्रकार हमें 'बौद्धिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारी बुद्धि तीक्ष्ण होनी चाहिये। हमारी बुद्धि शुद्ध, सात्त्विक और स्थिर होनी चाहिये। बुद्धिपर जो आवरण है, वह दूर होकर यथार्थ और सात्त्विक ज्ञान होना चाहिये। हमारी बुद्धिमें ज्ञानका इतना प्रकाश होना चाहिये कि जिससे हम परमात्माके स्वरूपको यथार्थतः समझ जायँ, बुद्धिके द्वारा जानने योग्य तत्त्व-पदार्थको जान जायँ; यह बौद्धिक उन्नति है। बौद्धिक उन्नति असली वही है, जिससे परमात्माके विषयका निर्भ्रान्त बोध हो, जिससे हमारे आत्माका कल्याण हो। आत्माके कल्याणमें सहायता देनेवाली बौद्धिक उन्नति ही यथार्थ बौद्धिक उन्नति है। जिस बौद्धिक उन्नतिसे संसारके पदार्थोंको जान-कर प्राणियोंको कष्ट दें, जिस बुद्धिके द्वारा लोगोंपर अनुचित शासन करें और स्वयं ऐश-आराम करें, वह बुद्धिकी उन्नति नहीं,

अवनति है। वह तो वस्तुतः पतन है। इसलिये हमें बुद्धिको सूक्ष्म और तीक्ष्ण बनाना चाहिये, जिससे हम परमात्माको जान सकें—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठ० १।३।१२)

'सूक्ष्मदृष्टिवाले पुरुषोंद्वारा सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धिसे परमात्मा देखा जाता है।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित वह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।' ऐसी जो हमारी बौद्धिक उन्नति है, वह कल्याण करनेवाली है। इस प्रकार हमें बौद्धिक उन्नति करनी चाहिये।

इसी प्रकार हमलोगोंको अपनी 'सामाजिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारे समाजका पतन होता जा रहा है। आज यदि किसीके तीन-चार लड़कियाँ हो जाती हैं तो दहेजकी कुप्रथाके कारण उनका विवाह होना कठिन हो जाता है। कलकत्तेके हंस-पुखरियामें एक लड़की सोलह वर्षकी हो गयी, उसके माता-पिताके पास दहेजके लिये रुपये नहीं थे; इस कारण लड़कीका विवाह न हो सका; अतः वे लड़कीके साथ ही विष खाकर मर गये। ऐसी हत्याओंका पाप लगता है दहेज लेकर विवाह करनेवाले लड़केके

अभिभावकोंको । हमारे देशमें दहेजकी प्रथा इस समय इतनी बुरी हो गयी है कि जिनके दो-चार लड़कियाँ होती हैं, वे प्रायः रात-दिन रोते हैं और लड़की भी माता-पिताके दुःखको देखकर रोती है । कोई-कोई लड़की तो माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या-तक कर लेती है । कितनी लज्जा और दुःखकी बात है ! आजकल हम जो रुपये लेकर लड़केको व्याहते हैं, इसका मतलब यह कि हम लड़केको बेचते हैं ।

हमारे यहाँ एक दिखावा होता है, उससे बड़ी हानि होती है । दूसरे लोग उसको देखकर उससे अधिक रुपया लगाते हैं, इससे खर्चकी वृद्धिमें प्रोत्साहन मिलता है । लड़का पैदा होता है, उस समय भी लोग बहुत फजूल खर्च कर देते हैं । विवाह-शादीमें जो बुरे गीत गाये जाते हैं, अनुचित दावतें दी जाती हैं, होटलोंमें पार्टी दी जाती है, आडम्बरपूर्ण सजावट की जाती है, हजारों रुपये व्यर्थ खर्च किये जाते हैं, अपवित्र तथा हिंसायुक्त वस्तुओंका व्यवहार किया जाता है—यह सभी सामाजिक पतन है । इस तरहकी बहुत-सी फजूलखर्ची और कुरीतियाँ हैं, जिनका सुधार करना परम आवश्यक है ।

इसी प्रकार हमलोगोंको 'व्यावहारिक उन्नति' करनी चाहिये । व्यवहारमें—व्यापारमें जो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करते हैं, लोगोंको धोखा देते हैं, यह हमारा 'व्यावहारिक पतन' है । हमें सचाई और समताके साथ न्याययुक्त त्यागपूर्वक व्यवहार करना चाहिये । इससे हमारे व्यवहारकी उन्नति होती है । दूसरोंके

साथ व्यवहार करनेमें हमें स्वार्थका त्याग करना चाहिये। त्यागसे हमारी यथार्थ व्यावहारिक उन्नति होगी और सच्चा सुधार होगा।

पराये धन, परायी स्त्री, परायी यश-कीर्तिको हड़पनेका विचार तथा प्रयत्न करना, अपनी सुख-सुविधाके लिये अन्यायपूर्वक दूसरेकी सुख-सुविधाको नष्ट करना—यह सब 'नैतिक पतन' है। इससे हटकर हमें न्यायपूर्वक अपनी वस्तुपर ही दृष्टि रखनी चाहिये। हमारा नैतिक स्तर इतना ऊँचा होना चाहिये कि जिसमें अनैतिकता-को कहीं जरा-सा भी स्थान हो ही नहीं। वरं हमारा न्याय वही हो, जिसमें दूसरेके अधिकारकी तथा हितकी रक्षा सावधानीसे होती हो। यही 'नैतिक उन्नति' है। हम अपनी चीज दूसरोंको दें नहीं और दूसरेकी चीज लें नहीं, ठीक अपने न्यायपर रहें, तो भी दोष नहीं है।

'धार्मिक उन्नति' इससे भी उच्चकोटिकी है। श्रीमनुजीने ये साधारण धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

१. धैर्य रखना, भारी आपत्ति आनेपर भी धैर्यका त्याग न करना। २. क्षमा करना, दूसरेके अपराधका बदला नहीं लेना। ३. मनको वशमें रखना। ४. चोरी-डकैती नहीं करना। ५. हृदयको शुद्ध बनानेके लिये बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना। ६. इन्द्रियोंको वशमें रखना। ७. सात्त्विक बुद्धि। ८. सात्त्विक ज्ञान। ९. सत्य वचन बोलना। १०. क्रोध न करना—ये सामान्य धर्मके दस

लक्षण हैं। यह सामान्य धर्म है। यह मनुष्यमात्रमें होना चाहिये और विशेष धर्मकी बातें मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंमें बतलायी हैं, उन्हें देख लेना चाहिये। इस प्रकार अपने धर्मकी उन्नति करना 'धार्मिक उन्नति' है। इस धार्मिक उन्नतिको निष्काम भावसे करनेपर आत्माका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमें 'आध्यात्मिक उन्नति' करनी चाहिये। आध्यात्मिक उन्नति वह है, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो, जिससे हमें परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो, हम यह समझ जायँ कि परमात्मा क्या वस्तु है। ईश्वरकी भक्ति अध्यात्मविषयका एक खास अङ्ग है। इसलिये हमको ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। जैसे धर्मके दस लक्षण बतलाये, वैसे ही भक्तिके भी नौ भेद बतलाये गये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्वकी बातोंको सुनना श्रवणभक्ति, वर्णन करना कीर्तनभक्ति और उनको मनसे चिन्तन करना स्मरणभक्ति है। भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना पाद-सेवनभक्ति, भगवान्‌के मानसिक या मूर्त विग्रहकी पूजा करना अर्चनभक्ति और भगवान्‌को नमस्कार करना वन्दनभक्ति है। प्रभु हमारे स्वामी, हम प्रभुके सेवक—यह दास्यभाव है। भगवान् हमारे सखा—यह सख्यभाव है और अपने आत्माको सर्वस्वसहित उनके समर्पण कर देना—यह आत्मनिवेदन है।'

इस प्रकार आत्माके कल्याणके लिये जो ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग,

भक्तियोग, कर्मयोग आदि अनेक प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उनका अनुष्ठान करना—आध्यात्मिक उन्नति है। आध्यात्मिक उन्नतिका अन्तिम फल परमात्माकी प्राप्ति है। जिसने परमात्माकी प्राप्ति कर ली, उसीने वस्तुतः अपने अध्यात्मविषयकी उन्नति की।

अतः हमलोगोंको धार्मिक उन्नति भी परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही करनी चाहिये। फिर वह धार्मिक उन्नति भी आध्यात्मिक उन्नतिमें सम्मिलित हो जाती है। वास्तवमें तो अध्यात्मविषयमें जो सहायक हो, वही धार्मिक उन्नति है। जो इसमें सहायक नहीं है, वह तो उन्नति ही नहीं है। ऊपर जितनी बातें बतायी गयीं, वे यदि आध्यात्मिक विषयमें सहायक हैं, तभी उन्नति है।

अब व्यावहारिक उन्नतिके विषयमें फिर संक्षेपसे कुछ विचार किया जाता है। हमारा व्यवहार यदि सात्त्विक हो जाय तो केवल व्यवहारसे ही हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे तुलाधार वैश्य थे और उनका व्यवहार बहुत उच्चकोटिका था। उस व्यावहारिक उन्नतिसे ही वे परमधामको चले गये। पद्मपुराणमें लिखा है कि तुलाधार वैश्य जो व्यापार करते थे, उसमें उनके स्वार्थका त्याग था, सचाईका व्यवहार था, सबके साथ सम बर्ताव था। इसीके प्रतापसे वे भगवान्‌के परमधाममें चले गये। इसी प्रकार शौचाचार-सदाचार है। उसे निष्कामभावसे संसारके हितके लिये करें तो उससे भी हमारा कल्याण हो सकता है। सबके हितका व्यवहार करें सबके साथ अच्छा बर्ताव करें तो केवल हमारे उस बर्तावसे आत्मा शुद्ध होकर कल्याण हो सकता है। अतः केवल स्वार्थका त्याग होना चाहिये।

स्वार्थका त्याग ही वास्तवमें मुक्ति देनेवाला है। भगवदर्थ अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेसे भी कल्याण हो सकता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' पूजा कैसी? सबमें भगवद्बुद्धि करके सबका हित करना। सबका सब प्रकारसे हित हो, इस प्रकारका भाव हृदयमें रखकर निष्काम प्रेम-भावसे उनकी सेवा करना—यही कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करना है। इस प्रकारकी पूजासे मनुष्यका उद्धार हो सकता है।

भगवान्ने गीताके अठारहवें अध्यायके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणका, ४३वेंमें क्षत्रियका और ४४वेंमें वैश्य और शूद्रका स्वाभाविक धर्म बतलाया है। ऊपर जो ४६ वाँ श्लोक लिखा है, इसमें भगवान्ने कहा है कि ये लोग उपर्युक्त प्रकारसे अपने-अपने धर्मका पालन करें तो उससे इनका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमारी धार्मिक क्रिया भी मुक्ति देनेवाली हो सकती है। पर वह मुक्ति देती है निष्कामभावसे करनेपर। हम जो यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं, उससे भी हमारी मुक्ति हो सकती है, यदि उसमें हमारा निष्कामभाव हो। उसमें

स्वार्थका तथा आसक्ति, अहंकार, ममता और कामनाका त्याग होना चाहिये, जैसा कि भगवान्‌ने बतलाया है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ।'

इसका अभिप्राय यही है कि हमारी सारी क्रिया स्वार्थरहित हो, हमारी क्रियाओंमें किसी प्रकारका अहंकार, स्वार्थ, ममता और आसक्ति न हो । तब वह क्रिया हमें मुक्ति देनेवाली हो जाती है । इसीका नाम 'कर्मयोग' है । निष्काम भाव आ जानेसे यह अध्यात्म-विषयका खास साधन बन जाता है ।

हम यदि यज्ञ, दान, तप, सेवा सकामभावसे करते हैं तो वे सब राजसी हो जाते हैं। वह धर्म तो है पर सकाम धर्म है और सकाम धर्मके पालनसे कामनाकी पूर्ति होती है, स्वर्गादि मिलते हैं; किंतु उससे मुक्ति नहीं होती । इसलिये हमें धर्मका पालन भी निष्काम-भावसे करना चाहिये । आध्यात्मिक विषय तो स्वरूपसे ही निष्काम है । यदि उसमें सकामभाव हो तो उसका नाम ही अध्यात्मविषय नहीं हो सकता । असली अध्यात्मविषय वही है कि जिसमें अपने आत्मा और परमात्माका ज्ञान हो जाय । उससे निश्चय ही कल्याण हो जाता है ।

अध्यात्मज्ञानके लिये हमको नित्य भगवान्‌की भक्ति करनी

चाहिये, भगवान्‌का भजन-ध्यान करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके लिये दूसरा उपाय यह है कि वास्तवमें परमात्मा क्या वस्तु है— इसे जानना। इसके लिये हमको परमात्माके विषयका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उस ज्ञानको हम महात्माओंके पास जाकर, सत्सङ्ग करके भी प्राप्त कर सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यह ज्ञानयोगका साधन है। इसके आगे ३५ वें श्लोकमें इसका फल बतलाया है। अतएव हमें ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर ज्ञानकी शिक्षा लेनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञानयोगसे भी हमारे आत्माका उद्धार हो जाता है।

श्रद्धासे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमात्मा मिल जाते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

'हे अर्जुन! जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—

तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति करनेसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

इस प्रकार कर्मयोग, सत्सङ्ग, श्रद्धा और भक्तिके द्वारा भी परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और स्वाध्यायके द्वारा भी हो जाता है ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

(गीता ४ । २८)

'कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं (इससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं) ।'

इसी प्रकार बहुत-से उपाय परमात्माकी प्राप्तिके लिये बतलाये हैं । उनमेंसे एकका भी साधन करके हम परमात्माको प्राप्त कर लें तो हमारा जीवन सफल हो सकता है । यह अध्यात्मविषय है ।

अध्यात्मविषयमें प्रधान बात है—पात्र बनना । वास्तवमें पात्र बननेमें ही विलम्ब होता है, परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता । जिस प्रकार बिजली जब फिट हो जाती है और शक्तिकेन्द्रसे उसका

सम्पर्क हो जाता है तो स्विच दबानेके साथ ही रोशनी हो जाती है; जो कुछ विलम्ब है वह बिजलीके फिट करनेमें तथा सम्पर्क जोड़नेमें ही है, स्विच दबानेमें नहीं; इसी प्रकार मनुष्य जब परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है तो उसे तुरंत परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

पात्र बननेके लिये सबसे उत्तम उपाय है—हम सारे संसारको परमात्मस्वरूप समझें और सारी चेष्टाको परमात्माकी लीला समझें। अर्थात् पदार्थमात्रको परमात्माका स्वरूप और चेष्टामात्रको परमात्माकी लीला समझें। इससे बहुत शीघ्र भाव सुधरकर कल्याण हो जाता है। हमको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि जहाँ हमारे मन और नेत्र जायँ, वहीं हम परमात्माका दर्शन करें। जैसे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है। जैसा कि भगवान्‌ने गीताके सातवें अध्यायके १९ वें श्लोकमें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

इसीके अनुसार हमको साधन करना चाहिये अर्थात् सिद्ध महात्मा पुरुषोंकी यह जो वास्तविक स्थिति है, उसको लक्ष्यमें रखकर उसके अनुसार हमको साधन करना चाहिये । सबमें भगवद्-बुद्धि करके सबमें भगवद्दर्शन करना चाहिये । जहाँ हमारी बुद्धि जाय, जहाँ मन जाय, जहाँ नेत्र जायँ, वहीं हम भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन करें और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझें तो आत्माकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है ।

जैसे कोई मनुष्य जब नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है, तब सारा संसार उसे हरे रंगका दीखने लगता है, इसी प्रकार हमें हरिके रंगका चश्मा अपनी बुद्धिपर चढ़ा लेना चाहिये । अपने अन्तःकरणपर हरिके रंगका यानी हरिके भावका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये । हम इस प्रकार सबमें परमात्मभाव करें कि सब परमात्माका स्वरूप है । यह एक प्रकारका उत्तम भाव है । हृदयमें हम इस भावको दृढ़ कर लें, यह चश्मा चढ़ा लें, फिर सर्वत्र यह भाव करें कि सर्वत्र भगवान् विराजमान हो रहे हैं तो बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और सर्वत्र भगवद्दर्शन होने लगते हैं । सब जगह एक परमात्माके सिवा फिर उसकी दृष्टिमें और कोई पदार्थ रहता ही नहीं । यह सबसे बढ़कर साधन है ।

देशवासियोंके हितकी कुछ बातें

वर्तमान समयमें उन्नतिके नामपर चारों ओर इस प्रकारके अनर्गल कार्य हो रहे हैं कि जिनसे देश, जाति और धर्मका पतन होता जा रहा है। उन सब अनर्थपूर्ण कार्योंको समझ-सोचकर उनसे स्वयं विरत होना तथा दूसरोंको उनकी बुराइयाँ समझाकर विरत करना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे देश, जाति और धर्मका उत्थान हो। हम अपनी धर्म-निरपेक्ष सरकारसे भी अनुरोध करते हैं कि वह हमारी प्रार्थनापर ध्यान दे। यहाँ ऐसी कुछ बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्यधर्म हिंदू-धर्मका प्रधान अङ्ग है; उसके विरुद्ध जो तलाक-विधेयक स्वीकृत किया गया है, वह भारतीय पतिव्रता स्त्रियोंके प्रति घोर अन्याय है। इससे संस्कारगत विवाहका मूल आदर्श ही नष्ट हो जाता है। यह स्त्रियोंके सतीत्वको तो नष्ट करनेवाला है ही, स्त्रियोंके सुखपूर्वक जीवनयापनमें भी बाधा पहुँचानेवाला है। पुरुषवर्ग इस तलाक-कानूनके सहारे निर्दोष स्त्रीपर दोष लगाकर उसका त्याग कर सकता है। फिर उन बेचारी अबलाओंकी क्या गति होगी? चरित्रहीन पुरुष अपनी विषयकामनाकी पूर्तिके लिये इस तलाक-कानूनका आश्रय लेकर सरल स्वभावकी धनी स्त्रियोंसे, पतिको छुड़ाकर, अपने साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और इस प्रकार क्षणिक सुखका प्रलोभन देकर उनके धन और सतीत्वका

हरण कर सकते हैं। ऐसी परित्यक्ता स्त्रियोंकी संख्या-वृद्धि हो सकती है। समाजके लोगोंके जो संस्कार हैं, उनके अनुसार उन स्त्रियोंके साथ भले लोग विवाह नहीं कर सकते, इससे पतित पुरुषोंको अपनी नीच वासनापूर्तिके लिये मौका मिल सकता है। विदेशोंकी भाँति यहाँ भी दम्पतिमें मुकदमेबाजी हो सकती है, इससे पारस्परिक प्रेममें तो बाधा है ही, साथ ही धनका अपव्यय भी है। उस दिन श्रीटंडनजी-ने यह ठीक ही कहा था कि 'तलाककी छूट देकर पातिव्रत्यके श्रेष्ठ आदर्शको कलङ्कित किया जा रहा है।'

यह हिंदू-विवाह-कानून हिंदू-धर्मपर प्रत्यक्ष घोर आघात है। हिंदू-विवाह कोई कंट्राक्ट नहीं है जो तोड़ा जा सके, वह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। यह अविच्छेद्य विवाह-संस्कार हिंदू-धर्मका एक मुख्य अङ्ग है। धर्मनिरपेक्ष सरकारका हिंदुओंकी इस पवित्रतम विवाह-संस्थाका विनाश करनेके लिये बहुमतके बलपर इस प्रकार कानून बना देना उचित नहीं है। जिसका अधिकांश हिंदू-जनताने एक स्वरसे विरोध किया, बड़े-बड़े न्यायाधीशोंने, विश्वविख्यात कानूनके पण्डितोंने, धर्माचार्योंने जिसको अन्यायमूलक तथा हिंदूधर्मके लिये अत्यन्त घातक बतलाया, उसी पतनका पथ प्रशस्त करनेवाले विवाह-कानूनको थोड़ी-सी पाश्चात्यभावापन्न स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिये और सुधारके नामपर, किसीकी भी कुछ भी न सुनकर, पास कर देना, जनतन्त्र सरकारके लिये कहाँतक युक्त है, विज्ञ पुरुष इसका विचार कर सकते हैं। विशाल जनताके मतके विरुद्ध केवल लोक-सभाके बहुमतसे कोई कार्य करना जनतन्त्रका उपहास करना है!

इसी प्रकार उत्तराधिकार (सम्पत्तिके बँटवारे) के विषयमें हिंदूपरिवारके लिये जो कानून बना है, वह भी हिंदूजातिके लिये अत्यन्त घातक है। स्त्रीका पिताके घरमें हिस्सा रखना स्त्रियोंके लिये महान् हानिकर है। इस कानूनके अनुसार उधर लड़कीको पिताके घरमें हिस्सा मिलेगा, तो इधर अपने ससुरालमें पतिकी बहिन (अपनी ननद) को दे देना पड़ेगा। इससे स्त्रियोंको क्या लाभ होगा। वरं परस्पर मनोमालिन्य, राग-द्वेष, वैर-विरोध बढ़ सकता है, भाई-बहिनोंका प्रेम नष्ट हो सकता है और मुकदमेबाजी हो सकती है। ऐसा होनेपर धर्म, इज्जत, लज्जा, शरीर और धनकी महान् हानि हो सकती है। सगे-सम्बन्धी परस्पर एक-दूसरेको मारनेके लिये उद्यत हो सकते हैं। इससे तो यही उत्तम है कि जबतक विवाह न हो, तबतक पिताके घरमें कन्याका पुत्रकी तरह पूरा अधिकार रहे और विवाह होनेके बाद ससुरके घरमें स्त्री-पुरुषका समान अधिकार रहे। अभी भी किसी अंशमें ससुरालमें स्त्रियोंका अधिकार है, इसको और अधिक दृढ़ कर दिया जाय कि पतिके जीवित रहते भी और मरनेपर भी स्त्रीका समान अधिकार रहे। यही स्त्री-जातिके लिये बहुत लाभकी बात है। ऐसा न करके विवाहिता स्त्रीके लिये पिताके घरमें अधिकार-का जो कानून बनाया गया है, उससे तो हानि-ही-हानि है—समाजमें घोर अशान्ति तथा अव्यवस्था हो सकती है। खास करके स्त्रियोंके लिये संकट बहुत बढ़ सकते हैं। स्त्रियोंमें स्वाभाविक ही सरलता है तथा लज्जा और भय भी है, इससे वे इस समय भी पुरुषोंके द्वारा अपने हकसे वञ्चित कर दी जाती हैं, इस कानूनसे तो उनकी और भी दुर्दशा हो सकती है।

आजकल धनी विधवा स्त्रियोंको भी भयानक कष्ट उठाने पड़ते हैं। यदि वह लड़का गोद लेती है तो वह लड़का उसके धनका मालिक बन बैठता है। कोई-कोई लड़के तो माताके साथ बहुत ही नीचताका बर्ताव करते देखे-सुने गये हैं। स्त्रीका निजी धन, जो फर्मके बहीखातोंमें उसके नामसे जमा है, उसे न देना; विवाह, द्विरागमन और पतिकी मृत्यु आदिके समय ससुर और पिता आदिसे मिले हुए धन और आभूषण आदिको भी हड़प लेना; उसके पतिकी जीवन-बीमाकी रकम, जो पतिके मरनेपर स्त्रीको मिलनी चाहिये, स्वयं ले लेना, उसे न देना; रहनेके लिये स्थानतक न देना; जीवन-निर्वाहके लिये मासिकरूपसे भी खर्च न देना, बल्कि उसपर झूठा दोष लगाकर उसे घरसे निकाल देना आदि अत्याचार गोदके लड़के माताओंके साथ करते हैं। कहीं-कहीं तो विधवा स्त्रीके निजी रुपये और गहनोंको सास-ससुर, जेठ-जेठानी और देवर-देवरानी कब्जा करके हड़प लेते हैं और यदि नैहरमें रकम या गहना रहा तो उसे भाई-भौजाई आदि हड़प जाते हैं। वह बेचारी रोती-कलपती और क्लेश भोगती रह जाती है। ससुराल, नैहर और अपनी इज्जतको ध्यानमें रखकर वह लज्जाके मारे अपने ससुरालवालों या नैहरवालोंपर कानूनी कार्रवाई भी नहीं करना चाहती और बिना ऐसा किये कोई उसे एक पैसा देता नहीं। ऐसी कोई बहिन यदि अदालतकी शरण लेना भी चाहती है तो कोई भी उसकी मदद भी नहीं करता—न समाजके लोग, न सरकार और न कानूनी पेशा करनेवाले वकील आदि ही। इस स्थितिमें उसका जीवन कितने संकटमें बीतता है, इसे वही जानती

। इधर दुराचारी लोग विविध साधनोंसे स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करने-

पर तुले रहते हैं। ऐसी अवस्थामें वह बेचारी क्या करे ! विधवाओंके इस घोर दुःखको देखकर मनुष्यका हृदय काँप जाता है। अतः विधवा बहिनोंके इस दुःखकी ओर समाज, सरकार, वकील आदि सभीको ध्यान देकर उनकी यथासाध्य सहायता करनी चाहिये और उनके निजी गहने तथा रुपये उनके हकके अनुसार उनको मिल जायँ, इसके लिये तथा उनके सतीत्वकी रक्षाके लिये सभीको विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

विवाहमें दहेज देनेकी प्रथा भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, यह देशके लिये बहुत ही घातक है। यह कुप्रथा प्रायः समस्त देशमें, भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें और प्रायः सभी जातियोंमें फैल गयी है। इसके कारण एक लड़कीके विवाहमें धनी पिताके तो लाखों रुपये खर्च होते ही हैं। साधारण श्रेणीके मनुष्यके भी एक लड़कीके विवाहमें पाँच-सात हजार रुपये खर्च हो जाते हैं और गरीब आदमीको भी कम-से-कम हजार आठ सौ रुपये तो खर्च करने ही पड़ते हैं। नहीं तो, लड़कीकी शादी होनी ही सम्भव नहीं। यह बहुत ही दुःखकी बात है। किसीके चार-पाँच लड़कियाँ हों तो उस बेचारेका तो जीवन ही भाररूप हो जाता है। यदि वह कहीं सौ-पचास रुपये मासिककी नौकरी करता है तो उनसे तो उसका घरका खर्च ही पूरा नहीं पड़ता। फिर वह चार-पाँच लड़कियोंका विवाह किस प्रकार करे ? न तो उसे रुपये उधार मिलते हैं और न माँगनेपर ही मिलते हैं। इस दुःखके कारण कोई-कोई माता-पिता और कन्या तो आत्महत्यातक कर लेते हैं। ऐसी घटनाएँ प्रायः होती रहती हैं। इन दुःखपूर्ण आत्महत्याओंको रोकनेके लिये

सरकार और जनताको उचित है कि इस बढ़ती हुई दहेज-प्रथाको साम, दाम, दण्ड, भेद—किसी भी प्रकारसे रोके। नहीं तो देश, जाति और धर्मकी भारी हानि हो सकती है। देशका महान् ह्रास हो जानेपर फिर कोशिश करनेपर भी कोई लाभ सम्भव नहीं। अतएव इसका शीघ्र सुधार होना चाहिये।

विवाह-शादीके समय अत्यधिक बिजली जलाने, शानदार मण्डप बनाने, आतिशबाजी करने, सिनेमा-नाटक आदि करवाने और मादक वस्तुओंके सेवन करने आदि कार्योंमें जो फिजूलखर्च होता है तथा लोगोंकी आसक्ति बढ़ती तथा रुचि बिगड़ती है, इससे बचनेके लिये भी प्रयत्न करके इनको बंद कराना चाहिये। बारात आनेके समय जो पार्टी दी जाती है, उसमें बड़े लोगोंके यहाँ प्रायः होटलके द्वारा प्रबन्ध होता है, जिसमें परोसनेवालोंमें सभी जातिके तथा विधर्मी भाई भी रहते हैं, उसमें एक पंक्तिसे बची हुई जूँठी मिठाई तथा नमकीन चीजें दूसरी पंक्तिवालोंको परोसी जाती हैं। इससे स्वास्थ्य, धर्म और धनकी प्रत्यक्ष हानि होती है। दुःखकी बात है कि जहाँ अपनी प्राचीन परिपाटीके अनुसार अपने घरपर आये हुए अतिथि महानुभावों तथा सगे-सम्बन्धियों और बन्धुओंके भोजनार्थ घरहीमें पवित्र सामग्री तैयार करवाकर स्वयं ही बड़े ही विनय, प्रेम और उत्साहके साथ परोसना और उनका आतिथ्य करना चाहिये, वहाँ यह वस्तुतः उन अतिथियोंका घोर अपमान है। यह भी कम खेदकी बात नहीं है कि आजकल कोई-कोई अतिथि भी इस भ्रष्टाचारको ही पसंद करने लगे हैं। पर ऐसा होना नहीं चाहिये और इस विषयमें अपनी प्राचीन संस्कृति तथा रीतिके अनुसार ही बर्ताव-व्यवहार करना

चाहिये । उसीसे कर्तव्य-पालन होता है तथा ठीक समझमें आ जानेपर अतिथिको भी विशेष प्रसन्नता होती है ।

विवाह-शादीके अतिरिक्त अन्य समय भी यदि किसी भी सज्जनको हम चाय या भोजनके लिये बुलाते हैं तो उसका प्रबन्ध भी पवित्रताके साथ स्वयं ही करना चाहिये, होटलोंके द्वारा नहीं करवाना चाहिये । अधिकांश होटलोंमें तो मांस, मछली, अंडे, मदिरा आदि अपवित्र पदार्थोंका प्रायः ही संसर्ग रहता है, जिससे धर्म, प्रतिष्ठा और शारीरिक स्वास्थ्यकी भी हानि होती है । इसके अतिरिक्त, स्वयं भी होटलोंमें जाकर भोजन करना हमारे प्रतिष्ठा, धर्म और स्वास्थ्यके लिये सर्वथा हानिकर और अपमानजनक है; क्योंकि उनमें मांस, मछली, अंडे, मदिरा आदि अपवित्र, घृणित और हिंसात्मक पदार्थोंका संसर्ग रहता ही है । किसी-किसी होटलमें तो गोमांसतक रहता है, जिससे परहेज होना असम्भव-सा है । अतएव होटलोंका संसर्ग किसी भी प्रकार नहीं करना चाहिये । इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें लाकर ही ऋषि-मुनियोंने विदेशोंमें जाना मना किया था ।

जन्म, उपनयन और मरणके समय भी जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्च बढ़े हुए हैं, उनका भी सुधार करना चाहिये । लड़केके जन्मके समय जो चौपड़-तास खेले जाते हैं, बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओंका सेवन किया जाता है, यह सर्वथा अनुचित है; इनको सर्वथा बंद करना चाहिये । जन्मके समय बालकके जातकर्म, बादमें नामकरण-संस्कार किये जाने चाहिये तथा यथासमय उसका उपनयन होना चाहिये, सो जातकर्म-नामकरणादि संस्कार तो प्रायः

किये ही नहीं जाते, उपनयन होता है। संस्कारोंके स्थानपर शास्त्र-विरुद्ध आयोजन किये जाते हैं और उपनयनमें कहीं-कहीं बड़ा आडम्बर किया जाता है। तरह-तरहके खेल होते है, अपवित्र वस्तुओंका सेवन होता है। गरीबोंको न देकर व्यर्थ ही पार्टियाँ की जाती हैं। ये सब फिजूलखर्च और कुरीतियाँ हैं। अतः इन सब आडम्बरोंको बंद करके केवल शास्त्र-विधिके अनुसार उपनयन-संस्कार होना चाहिये।

मरनेके पश्चात् मृतकके लिये तिलाञ्जलि, दशगात्र, नारायण-बलि, सपिण्डी-श्राद्ध, यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन और अत्यन्त निकट-वर्ती कुटुम्बियोंको भोजन करानेके अतिरिक्त जो व्यर्थ खर्च किया जाता है, उसको बिल्कुल बंद कर देना चाहिये।

भारतमें गो-जातिका भी दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गो-जातिकी हत्या होती है और उनका चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें भेजा जाता है। इस कारण भारतवासियोंको घी-दूधका मिलना दुर्लभ-सा हो चला है। लोग घीकी जगह नकली घी—जमाया तेल (वेजिटेबल) व्यवहारमें लाते हैं, जो स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर है। विदेशोंसे हजारों टन सुखाये हुए दूधका पाउडर तथा रिफाइंड तेलके नामसे जानवरोंकी चर्बी भारतमें आती है, अब तो अमेरिकासे घी भी आ रहा है! यह हमारे लिये बड़े ही दुःख और लज्जाकी बात है। जिस देशके एक ही प्रान्तमें करोड़ों दुधारू गायें रहती थीं, आज वहाँ वैसी दुधारू गायें हजारों भी नहीं मिलतीं। इस बातपर विचार करके सारे देशमें

गो-धनकी वृद्धि हो, इसका विशेषरूपसे प्रयत्न होना चाहिये और कानूनसे गो-हत्या कतई बंद कर देनी चाहिये।

कोई-कोई भाई कहते हैं कि चौदह वर्षसे अधिक उम्रकी बूढ़ी गायोंकी यदि हत्या न की जायगी तो अच्छी गायोंके लिये चारा नहीं मिलेगा। पर यह उनकी दूरदर्शिता नहीं है। प्रथम तो चौदह वर्षके बतलाकर झूठे सर्टिफिकेट प्राप्त कर लिये जाते हैं और इस प्रकार दुनियाको धोखा देकर कम उम्रके गाय, बैल और बछड़े, बछड़ियाँ आदि भी प्रत्यक्ष अधिक संख्यामें मारे जा रहे हैं, कलकत्ते तथा बम्बई आदिके कसाईखानोंमें जाकर देख सकते हैं। दूसरे बूढ़ी गाय भी जो गोबर-गोमूत्र करती है, उसकी ही खादसे अन्न और घासकी उपज इतनी अधिक होती है कि उससे उन वृद्ध गायोंका अनायास ही पालन हो सकता है। उनकी खूराकके लिये चिन्ता करना ही भूल है। फिर, स्थान-स्थानपर अच्छे गो-सदनोंकी स्थापना करके ऐसी गायोंको बचाना सरकार तथा जनताका धर्म है।

सिनेमा (चलचित्र) का प्रचार-प्रसार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, मनोरञ्जनकी सामग्री तथा कला-व्यवसायके नामपर सरकार भी इसमें पर्याप्त सहायता कर रही है, परंतु इससे देशका कितना भयानक नैतिक पतन हो रहा है, आर्य स्त्रियोंकी सांस्कृतिक प्रतिष्ठाका कितना घोर विनाश हो रहा है, धन, स्वास्थ्य, धर्म तथा सदाचारकी कितनी असह्य हानि हो रही है, इसकी ओर बहुत कम लोगोंका ध्यान है। दिनोंदिन बढ़नेवाली चरित्रहीनता सिनेमाका अवश्यम्भावी दुष्परिणाम है, परंतु क्या किया जाय, विनाशको ही

उत्थान माना जा रहा है; तथापि हमारी सरकार तथा देशके विचारशील पुरुषोंसे यह साग्रह अनुरोध है कि वे इसकी भीषण बुराइयोंको समझें और जनताको उससे बचानेका समुचित प्रयत्न करें।

इधर हमारे देशमें डाक्टरोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। साथ-ही-साथ बीमारियाँ भी बढ़ रही हैं। खेद तो इस बातका है कि अच्छे-अच्छे वैद्य भी पैसेके लोभसे अपने लड़कोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं—डाक्टरी दवाओंका मूल्य इतना अधिक है कि भारतकी गरीब जनता उसे सहन नहीं कर सकती। कोई गरीब भाई बीमार पड़ जाता है और यदि वह डाक्टरी इलाज करवाता है तो डाक्टर और कम्पाउंडरकी फीस, उनका वाहन-भाड़ा, इंजेक्शन-दवा आदिकी कीमत सब मिलकर इतना अधिक हो जाता है कि उस गरीबका एक मासका वेतन एक ही दिनमें स्वाहा हो जाता है। गरीब भाइयोंको इलाजके लिये न तो कोई ऋण देता है और न कोई माँगनेपर ही कुछ देता है। बिना द्रव्यके कोई डाक्टर फ्री इलाज नहीं करता। कई भाई तो खर्चकी तंगीके कारण बिना इलाजके तड़प-तड़पकर मर जाते हैं। थाइसिस (यक्ष्मा) के रोगीको तो हरेक जगह रहनेके लिये स्थान भी नहीं मिलता तथा सेनिटोरियमका इलाज इतना महँगा पड़ता है कि एक गरीब भाई उसे किसी प्रकार भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। यक्ष्माके रोगके कारण आदमी मरता तो है ही, पर रोगकी चिन्ता और धनाभावके कारण इलाजकी चिन्तासे भी जलता रहता है। किंतु विदेशी दवाओंका मोह इतना बढ़ गया है कि यह सब सहकर भी रोगी उसीकी इच्छा करता है।

विदेशी दवाइयाँ हमारे शरीरोंको अनुकूल भी नहीं पड़तीं तथा इनके लिये विदेशोंके पराधीन भी होना पड़ता है। गरीब भारतके लिये खर्च भी बढ़ता है। साथ ही डाक्टरी दवाओंमें मछलीका तेल, घोड़ेका खून, गायका पित्त, शराब, अण्डा, पशु-पक्षियोंका मांस, खून, चर्बी आदिका अत्यधिक प्रयोग किया जाता है, अतः इनमें अपवित्रता और अत्यधिक हिंसा होनेके कारण धर्मकी भी विशेष हानि है।

आयुर्वेदकी चिकित्सा उच्चकोटिकी, धर्मयुक्त, त्रिकालज्ञ ऋषियोंके महत्त्वपूर्ण अनुभवसे युक्त, कम खर्चीली, पवित्र और अद्भुत चमत्कार दिखानेवाली ओषधियोंसे परिपूर्ण है। जड़ी-बूटी और काष्ठादि औषधसे कम पैसोंमें ही इलाज हो जाता है और खर्चीला जीवन न होनेसे वैद्योंकी फीस भी डाक्टरोंसे कम ही है; किंतु दुःखकी बात है कि चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि त्रिकालज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित आयुर्वेदके ग्रन्थोंकी अवहेलना होती जा रही है, जो कि देशके लिये घातक है और ओषधियोंका ज्ञान न होने तथा उनके प्रति आदर न होनेके कारण यह महान् विज्ञान हमारे देशसे नष्ट होता जा रहा है।

अतएव सरकारसे और धनी महानुभावोंसे हमारा अनुरोध है कि आयुर्वेदिक चिकित्सालय जगह-जगह खोले जायँ, जिनसे सस्ती और शुद्ध चिकित्सा हो सके एवं आयुर्वेदकी शिक्षा-दीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर आयुर्वेदके विद्यालय भी खोले जायँ। आयुर्वेदकी रक्षा और वृद्धिके लिये धनी-मानी देशवासियोंको और सरकारको विशेष ध्यान देकर प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो, हमारे देशसे एक बहुत बड़े विज्ञानकी हानि हो सकती है, जिसकी पूर्ति पुनः सहज सम्भव नहीं।

देशमें आजकल स्कूल और कालेजोंमें जो शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, उससे वस्तुतः देशके बालकोंकी बड़ी हानि हो रही है। वे हमारी भारतीय संस्कृतिसे वञ्चित रहकर पाश्चात्त्य संस्कृतिमें रँगे जाते हैं। बालकोंमें सदाचार, सद्गुण, ईश्वरभक्ति, बड़ोंके प्रति आदरभाव और लज्जाका, जो हमारी भारतीय संस्कृतिके महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं, दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। इसके विपरीत पाश्चात्त्य सभ्यताकी वृद्धि हो रही है, साथ ही दुर्गुण, दुराचार, नास्तिकता, विलासिता, उद्दण्डता, आलस्य-प्रमाद और निर्लज्जता बढ़ती जा रही है, जो कि बालकोंके लिये और देशके लिये अत्यन्त हानिकारक है; क्योंकि देशकी भावी उन्नति प्रायः बालकोंपर ही विशेष निर्भर करती है। इनका जैसा भाव और चरित्र होगा, वैसा ही देशका स्वरूप हो सकता है। हमारे देशके बड़े-बड़े अधिकारी भी इस बातको जानते हैं तथा स्वीकार करते हैं, किंतु अभीतक इसका सुधार नहीं हो पाया है। अतएव इसपर शीघ्र ध्यान देना चाहिये और बालकोंको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे भारतीय संस्कृतिका ज्ञान बढ़े और उनकी शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, भौतिक, व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति हो। बालकोंकी सर्वाङ्गीण उन्नतिसे ही देशकी उन्नति है। इसलिये शिक्षा-दीक्षाका सुधार विशेषरूपसे होना चाहिये।

इस समय हिंदू-धर्मपर भी भारी आघात हो रहा है। धर्मके प्रचारकी बात तो दूर रही, बल्कि उसके पालन करनेवालोंपर विपत्तिके पहाड़ टूट रहे हैं। हमारे ईसाई और मुसलमान भाई अपने

धर्मका प्रचार करते हैं, उसमें सरकारकी ओरसे कोई रुकावट नहीं है; बल्कि मस्जिदोंके लिये भारत-सरकार समय-समयपर पर्याप्त सहायता करती है। ईसाई भाइयोंको अमेरिका आदि देशोंसे धनकी पर्याप्त सहायता मिलती रहती है। उनके लिये भी सरकारकी ओरसे कोई रुकावट नहीं है। दुःखकी बात है कि जो सुविधा और सहायता मुसलमान और ईसाई भाइयोंको उनके धर्म-प्रचारके लिये मिलती है; कम-से-कम उतनी तो हिंदुस्थानमें हिंदुओंको मिलनी ही चाहिये, नहीं तो हिंदू-धर्मका ह्रास होकर हिंदुस्थानमें मुसल्मान और ईसाइयोंकी संख्या ही अधिक मात्रामें बढ़ सकती है, जिससे आगे चलकर भारत-सरकारके लिये विशेष कठिनाई हो सकती है। भारतमें प्रतिवर्ष ईसाइयोंकी संख्या जोरोंसे बढ़ रही है। इस बाढ़में सरकारको न्याययुक्त रुकावट डालनी चाहिये। इसी प्रकार मुसल्मान भाइयोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। मुसल्मान भाई चार स्त्रियोंके साथ विवाह करके दो सालमें चार संतान उत्पन्न कर सकते हैं; किंतु हिंदू एक ही स्त्रीके साथ विवाह करके दो वर्षमें एक संतान ही पैदा कर सकता है। यद्यपि एक स्त्रीके साथ विवाह करना ही आदर्श है, परंतु यह आदर्श भारतमें सभी वर्गके लोगोंके लिये होना चाहिये। इसलिये भारतमें जो कोई भी कानून बने, वह केवल हिंदुओंके लिये ही नहीं, मुसल्मान, ईसाई सभीपर लागू होना चाहिये।

हिंदू भाइयोंसे प्रार्थना है कि जैसे ईसाई भाई अपने धर्म और जातिकी उन्नतिके लिये अपने धर्मकी पुस्तकें बहुत कम दामोंमें बेचते हैं, इसी प्रकार कम दामोंमें अपने हिंदू-धर्मकी पुस्तकोंका

प्रचार करना चाहिये । ईसाई भाई जिनको ईसाई बनाते हैं, उनके रोगादिकी निवृत्तिके लिये अस्पताल और विद्याके लिये विद्यालय आदि खोलते हैं और साथ ही उनमें अपने ईसाई-धर्मकी शिक्षा भी देते हैं । इसी प्रकार हिंदू भाइयोंको तमाम हिंदुओंके लिये छोटे-से-छोटे स्थानमें भी बिना मूल्य शिक्षा-चिकित्सा तथा सेवा और सहायताकी समुचित व्यवस्था करनी चाहिये और पाठशाला-विद्यालयोंमें अन्य शिक्षाके साथ कम-से-कम गीता-रामायण आदिकी पढ़ाई तो अनिवार्य करनी चाहिये ।

देशकी सर्वमान्य भाषा संस्कृत, राष्ट्रभाषा हिंदी और देवनागरी लिपि ही राष्ट्रिय लिपि होनी चाहिये । इनमें संस्कृतपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि हमारी संस्कृतिका स्रोत संस्कृतमें ही है । हमारे सब धार्मिक ग्रन्थ संस्कृतमें ही हैं तथा संस्कृत ही हमारी आदि भाषा है । इसमें थोड़ेसे शब्दोंमें ही बहुत अर्थ और भावसे युक्त विषय भरे जा सकते हैं । संस्कृतमें एक धातुके सैकड़ों रूप बनते हैं, जो दूसरी भाषाओंमें कदापि सम्भव नहीं । ऐसी अनेक विशेषताओंसे सम्पन्न संस्कृत भाषा ही है । अतः सभीको इसकी सब प्रकारसे रक्षा और उन्नति करनी चाहिये ।

इस लेखमें मैंने कुछ आवश्यक विषयोंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया है, इसपर यदि ध्यान दिया जाय तो देशवासियोंका बड़ा हित है और मैं आप सबका आभारी होऊँगा ।

दानका रहस्य

दानमें महत्त्व है त्यागका, वस्तुके मूल्य या संख्याका नहीं। ऐसी त्यागबुद्धिसे जो सुपात्रको यानी जिस वस्तुका जिसके पास अभाव है, उसे वह वस्तु देना और उसमें किसी प्रकारकी कामना न रखना उत्तम दान है। निष्कामभावसे किसी भूखेको भोजन और प्यासेको जल देना सात्त्विक दान है। संत श्रीएकनाथजीकी कथा आती है कि वे एक समय प्रयागसे काँवरपर जल लेकर श्रीरामेश्वर चढ़ानेके लिये जा रहे थे। रास्तेमें जब एक जगह उन्होंने देखा कि एक गदहा प्यासके कारण पानीके बिना तड़प रहा है, उसे देखकर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने उसे थोड़ा-सा जल पिलाया, इससे उसे कुछ चेत-सा हुआ। फिर इन्होंने थोड़ा-थोड़ा करके सब जल उसे पिला दिया। वह गदहा उठकर चला गया। साथियोंने सोचा कि त्रिवेणीका जल व्यर्थ ही गया और यात्रा भी निष्फल हो गयी। तब एकनाथजीने हँसकर कहा—'भाइयो, बार-बार सुनते हो, भगवान् सब प्राणियोंके अंदर हैं, फिर भी ऐसे बावलेपनकी बात सोचते हो! मेरी पूजा तो यहींसे श्रीरामेश्वरको पहुँच गयी। श्रीशङ्करजीने मेरे जलको स्वीकार कर लिया।'

एक महाजनकी कहानी है कि वह सदैव यज्ञादि कर्मोंमें लगा

रहता था। उसने बहुत दान किया। इतना दान किया कि उसके पास खानेको भी कुछ न रह गया। तब उसकी स्त्रीने कहा—'पासके गाँवमें एक सेठ रहते हैं, वे पुण्योंको मोल खरीदते हैं, अतः आप उनके पास जाकर और अपना कुछ पुण्य बेचकर द्रव्य ले आइये, जिससे अपना कुछ काम चले।' इच्छा न रहते हुए भी स्त्रीके बार-बार कहनेपर वह जानेको उद्यत हो गया। उसकी स्त्रीने उसके खानेके लिये चार रोटियाँ बनाकर साथ दे दीं। वह चल दिया और उस नगरके कुछ समीप पहुँचा, जिसमें वे सेठ रहते थे। वहाँ एक तालाब था। वहीं शौच-स्नानादि कर्मोंसे निवृत्त होकर वह रोटी खानेके लिये बैठा कि इतनेमें एक कुतिया आयी। वह वनमें ब्यायी थी। उसके बच्चे और वह, सभी तीन दिनोंसे भूखे थे; भारी वर्षा हो जानेके कारण वह बच्चोंको छोड़कर शहरमें नहीं जा सकी थी। कुतियाको भूखी देखकर उसने उस कुतियाको एक रोटी दी। उसने उस रोटीको खा लिया। फिर दूसरी दी तो उसको भी खा लिया। इस प्रकार उसने एक-एक करके चारों रोटियाँ कुतियाको दे दीं। कुतिया रोटी खाकर तृप्त हो गयी। फिर, वह वहाँसे भूखा ही उठकर चल दिया तथा उस सेठके पास पहुँचा। सेठके पास जाकर उसने अपना पुण्य बेचनेकी बात कही। सेठने कहा—'आप दोपहरके बाद आइये।'

उस सेठकी स्त्री पतिव्रता थी। उसने स्त्रीसे पूछा—'एक महाजन आया है और वह अपना पुण्य बेचना चाहता है। अतः तुम बताओ कि उसके पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य सबसे बढ़कर लेने

योग्य है ।' स्त्रीने कहा—'आज जो उसने तालाबपर बैठकर एक भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, उस पुण्यको खरीदना चाहिये; क्योंकि उसके जीवनमें उससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है ।' सेठ 'ठीक है'—ऐसा कहकर बाहर चले आये।

नियत समयपर महाजन सेठके पास आया और बोला—'आप मेरे पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य खरीदेंगे ?' सेठने कहा—'आपने आज जो यज्ञ किया है, हम उसी यज्ञके पुण्यको लेना चाहते हैं ।' महाजन बोला—'मैंने तो आज कोई यज्ञ नहीं किया। मेरे पास पैसा तो था ही नहीं, मैं यज्ञ कहाँसे कैसे करता ।' इसपर सेठने कहा—'आपने जो आज तालाबपर बैठकर भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, मैं उसी पुण्यको लेना चाहता हूँ ।' महाजनने पूछा—'उस समय तो वहाँ कोई नहीं था, आपको इस बातका कैसे पता लगा ?' सेठने कहा—'मेरी स्त्री पतिव्रता है, उसीने ये सब बातें मुझे बतायी हैं ।' तब महाजनने कहा—'बहुत अच्छा' ले लीजिये; परंतु मूल्य क्या देंगे ?' सेठने कहा—'आपकी रोटियाँ जितने वजनकी थीं, उतने ही हीरे-मोती तौलकर मैं दे दूँगा ।' महाजनने स्वीकार किया और उसकी सम्मतिके अनुसार सेठने अंदाजसे उतने ही वजनकी चार रोटियाँ बनाकर तराजूके एक पलड़ेपर रक्खीं और दूसरे पलड़ेपर हीरे-मोती आदि रख दिये; किंतु बहुत-से रत्नोंके रखनेपर भी वह (रोटीवाला) पलड़ा नहीं उठा । इसपर सेठने कहा—'और रत्नोंकी थैली लाओ ।' जब उस महाजनने अपने इस पुण्यका इस प्रकारका प्रभाव देखा तो उसने कहा कि 'सेठजी ! मैं अभी इस पुण्यको नहीं बेचूँगा ।' सेठ बोला—

'जैसी आपकी इच्छा ।'

तदनन्तर वह महाजन वहाँसे चल दिया और उसी तालाबके किनारेसे, जहाँ बैठकर उसने कुतियाको रोटियाँ खिलायी थीं, थोड़े-से चमकदार कंकड़-पत्थरों तथा काँचके टुकड़ोंको कपड़ेमें बाँधकर अपने घर चला आया । घर आकर उसने वह पोटली अपनी स्त्रीको दे दी और कहा—'इसको भोजन करनेके बाद खोलेंगे ।' ऐसा कहकर वह बाहर चला गया । स्त्रीके मनमें उसे देखनेकी इच्छा हुई । उसने पोटलीको खोला तो उसमें हीरे-पन्ने-माणिक आदि रत्न जगमगा रहे थे । वह बड़ी प्रसन्न हुई । थोड़ी देर बाद जब वह महाजन घर आया तो स्त्रीने पूछा—'इतने हीरे-पन्ने कहाँसे ले आये ?' महाजन बोला—'क्यों मजाक करती हो ?' स्त्रीने कहा—'मजाक नहीं करती, मैंने स्वयं खोलकर देखा है, उसमें तो ढेर-के-ढेर बेशकीमती हीरे-पन्ने भरे हैं ।' महाजन बोला—'लाकर दिखाओ ।' उसने पोटली लाकर खोलकर सामने रख दी। वह उन्हें देखकर चकित हो गया । उसने इसको अपने उस पुण्यका प्रभाव समझा । फिर उसने अपनी यात्राका सारा वृत्तान्त अपनी पत्नीको कह सुनाया ।

कहनेका अभिप्राय यह कि ऐसे अभावग्रस्त आतुर प्राणीको दिये गये दानका अनन्तगुना फल हो जाता है, भगवान्‌की दयाके प्रभावसे कंकड़-पत्थर भी हीरे-पन्ने बन जाते हैं ।

इस प्रकार दीन-दुखी, आतुर और अनाथको दिया गया दान उत्तम है । किसीके संकटके समय दिया हुआ दान बहुत ही लाभकारी होता है । भूकम्प, बाढ़ या अकाल आदिके समय आपद्ग्रस्त

प्राणीको एक मुट्ठी चना देना भी बहुत उत्तम होता है। जो विधिपूर्वक सोना, गहना, तुलादान आदि दिया जाता है, उससे उतना लाभ नहीं, जितना आपत्तिकालमें दिये गये थोड़ेसे दानका होता है। अतः हरेक मनुष्यको आपत्तिग्रस्त, अनाथ, लूले, लँगड़े, दुखी, विधवा आदिकी सेवा करनी चाहिये। कुपात्रको दान देना तामसी दान है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये दिया हुआ दान राजसी है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा भी पतन करनेवाली है। आज तो यह मान-बड़ाई हमें मीठी लगती है, पर उसका निश्चित परिणाम पतन है। अतः मान-बड़ाईकी इच्छाका त्याग कर देना चाहिये, बल्कि यदि किसी प्रकार निन्दा हो जाय तो वह अच्छी समझी जाती है। श्रीकबीर-दासजी कहते हैं—

निन्दक नियरें राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

इसलिये परम हितकी दृष्टिसे मान-बड़ाईके बदले संसारमें अपमान-निन्दा होना उत्तम है। साधकके लिये मान-बड़ाई मीठा विष है और अपमान-निन्दा अमृतके तुल्य है। इसीलिये निन्दा करनेवालेको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिये; परंतु कोई भी निन्दनीय पापाचार नहीं करना चाहिये। दुर्गुण-दुराचार बड़े ही खतरेकी चीज है। इसलिये इनका हृदयसे त्याग कर देना चाहिये। अपने सद्गुणोंको छिपाकर दुर्गुणोंको प्रकट करना चाहिये। आजकल लोग सच्चे दुर्गुणोंको छिपाकर बिना हुए ही अपनेमें सद्गुणोंका संग्रह बताकर उनका प्रचार करते हैं, यह सीधा नरकका रास्ता है।

अतः मान-बड़ाईकी इच्छा हृदयसे सर्वथा निकाल देनी चाहिये। संसारमें हमारी प्रतिष्ठा हो रही है और हम यदि उसके योग्य नहीं हैं तो हमारा पतन हो रहा है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा चाहनेवालेसे भगवान् दूर हो जाते हैं; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा पतनमें ढकेलनेवाली है। मान-बड़ाईको रौरवके समान और प्रतिष्ठाको विष्ठाके समान समझना चाहिये। यही संतोंका आदेश है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि सुपात्रको दिया गया दान दोनोंके लिये ही कल्याणकारी है। कुपात्रको दिया गया दान दोनोंको डुबानेवाला है। जैसे पत्थरकी नौका बैठनेवालेको साथ लेकर डूब जाती है, उसी प्रकार कुपात्र दाताको साथ लेकर नरकमें जाता है।

दानके सम्बन्धमें एक बात और समझनेकी है। बड़े धनी पुरुषके द्वारा दिये गये लाखों रुपयोंके दानसे निर्धनके एक रुपयेका दान अधिक महत्त्व रखता है; क्योंकि निर्धनके लिये एक रुपयेका दान भी बहुत बड़ा त्याग है। भगवान्‌के यहाँ न्याय है। ऐसा न होता तो फिर निर्धनोंकी मुक्ति ही नहीं होती। इस विषयमें एक कहानी है। एक राजा प्रजाजनोंके सहित तीर्थ करनेके लिये गये। रास्तेमें एक आदमी नंगा पड़ा था, वह ठंडके कारण ठिठुर रहा था। राजाके साथी प्रजाजनोंमें एक जाट था, उसने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती उस नंगे आदमीको दे दी, इससे उसके प्राण बच गये। जाटके पास पहननेको एक ही धोती रह गयी। आगे जब वे दूर गये तो वहाँ बहुत कड़ी धूप थी, पर उन्होंने देखा कि बादल उनपर

छाया करते चले जा रहे हैं। राजाने सोचा कि 'हमारे पुण्यके प्रभावसे ही बादल छाया करते हुए चल रहे हैं।' तदनन्तर वे एक जगह किसी वनमें ठहरे। जब चलने लगे, तब किसी महात्माने पूछा--'राजन्! तुम्हें इस बातका पता है कि ये बादल किसके प्रभावसे छाया करते हुए चल रहे हैं?' राजा कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। तब महात्माने कहा—'अच्छा, तुम एक-एक करके यहाँसे निकलो। जिसके साथ बादल छाया करते हुए चलें, इसको उसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव समझना चाहिये।' तब पहले राजा वहाँसे चले, फिर एक-एक करके सब प्रजाजन चले, पर बादल वहीं रहे। तब राजाने कहा—'देखो तो, पीछे कौन रह गया है।' सेवकोंने देखा कि वहाँ एक जाट सोया पड़ा है। उसे उठाकर वे राजाके पास लाये, तब बादल भी उसके साथ-साथ छाया करते चलने लगे। तब महात्मा बोले--'यह इसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव है।' राजाने उससे पूछा--'तुमने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है?' बार-बार पूछनेपर उसने कहा कि 'मैंने और तो कोई पुण्य नहीं किया, अभी रास्तेमें मैंने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती रास्तेमें पड़े जाड़ेसे ठिठुरते हुए एक नंगे मनुष्यको दी थी।'

इसपर महात्माने राजासे कहा—'राजन्! तुम बड़ा दान करते हो, परंतु तुम्हारे पास अतुल सम्पत्ति है, इसलिये तुम्हारा त्याग दो धोतीमेंसे एक दे डालनेके समान नहीं हो सकता।'

इस प्रकार दानका रहस्य समझकर दान करना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये स्वार्थत्यागकी शिक्षा

स्त्रियोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये तथा पुरुषोंके साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिये, यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

भगवान्‌को प्रसन्न करना अर्थात् भगवान्‌की प्रसन्नताके अनुसार कार्य करना तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य और एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। स्वार्थत्यागपूर्वक सबकी सेवा करनेसे सब प्रसन्न होते हैं और सबके प्रसन्न होनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को प्रसन्न करनेसे बहुत ही शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

माता-बहिनोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, इसमें ये दो बातें स्मरण रखनेकी हैं। एक तो यह कि मेरे व्यवहारसे सबको प्रसन्नता कैसे हो और दूसरे, यह समझना चाहिये कि परमात्मा सबमें विराजमान हैं, सब परमात्माके ही रूप हैं, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है और यों समझकर हर प्रकारसे अपनेद्वारा जैसे ही बने, निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये।

जैसे स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थसाधनमें रत होता है, वैसे ही

सबके हितमें रत होना बहुत उच्चकोटिकी सेवा है और यही माता-बहिनोंका लक्ष्य होना चाहिये । इसके तीन भेद हैं—

(१) जो वर्ण, आश्रम, पद, अवस्था और ज्ञानमें अपनेसे बड़े हैं, चाहे स्त्री हों या पुरुष, उनकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा करना ।

(२) जो बराबरकी अवस्थावाले, समान श्रेणीवाले हैं, उनकी मित्रभावसे सेवा करना ।

(३) जो अपनेसे किसी भी प्रकारसे छोटे हैं, उनकी वात्सल्यभावसे सेवा करना ।

इस प्रकार सेवामें यथायोग्य दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव रखना चाहिये । किसी भी रूपमें जो हमारे बड़े, पूज्य और स्वामी हैं, उनको मालिक समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनकी सेवा करना—दास्यभाव है । जैसे स्त्री अपने पतिकी सेवा करती है, पुत्र अपने माता-पिताकी सेवा करते हैं और शिष्य अपने गुरुकी सेवा करते हैं तो यह दास्यभाव है । बराबरवालोंके साथ जो मित्रताका भाव है, वह सख्यभाव है और छोटोंके प्रति जो स्नेहयुक्त पालन-पोषण-रक्षणका भाव है, वह वात्सल्यभाव है । तीनोंमें उद्देश्य एक ही है—उनको सुख पहुँचाना । इस प्रकारके भावोंसे परस्पर प्रेम बढ़ता है और ऐसे हेतुरहित प्रेमसे भगवान् प्रसन्न होते हैं । वास्तवमें यह प्रेम भगवान्‌में ही है; क्योंकि उसकी सबमें भगवद्बुद्धि है और सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है, इस निश्चयसे ही निःस्वार्थ सेवा की जाती है । इसलिये उस सेवा करनेवालेका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसका दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है । उसके व्यवहारसे

दूसरे भी इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उसका अनुकरण करनेकी अर्थात् उसके अनुसार बननेकी चेष्टा करते हैं। यह उनकी परम सेवा है।

स्त्रीका कर्तव्य है कि वह ससुरालमें अपनी सास और जेठानी आदिको जन्म देनेवाली माँसे भी बढ़कर समझे और यह निश्चय करे कि मैं यदि सेवाके द्वारा इनको प्रसन्न कर लूँगी तो भगवान् प्रसन्न होंगे; इसी भावसे उनकी सेवा करे। जो कार्य अपने मनके अनुकूल न होनेपर भी उनके मनके अनुकूल हो, वही करे; अपनी प्रतिकूलताकी परवा न करके उनकी अनुकूलताका आदर करे। उनकी प्रसन्नताको ही प्रधानता दे। परंतु यदि किसी पापकर्मसे उनको प्रसन्नता होती हो तो वह पाप कभी भूलकर भी न करे। बड़ोंको सुख पहुँचानेके लिये बड़ा-से-बड़ा कष्ट सह ले; परंतु उनकी पापमयी आज्ञाका पालन न करे; क्योंकि उसके पालनसे उनका भी हित नहीं है। पापके लिये आज्ञा देनेवाले और उस आज्ञाका पालन करनेवाले—दोनों ही नरकमें जाते हैं। इसलिये हिंसा, चोरी, असत्य-भाषण, व्यभिचार आदि करनेकी पापमयी आज्ञा बड़े लोग दें तो उनका पालन नहीं करना चाहिये। ऐसी दुष्ट आज्ञाओंका पालन न करनेसे आज्ञा देनेवाले भी नरकसे बच सकते हैं। फिर चाहे आज्ञा न माननेके कारण अपनेको नरकमें ही जाना पड़े; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार स्वार्थ-त्याग करके दूसरोंको नरकसे बचानेवाली स्त्रीको नरकमें डालनेकी शक्ति यमराजमें भी नहीं है।

त्यागमूर्ति श्रीभरतजीने अपनी माताकी अनुचित आज्ञाका पालन

नहीं किया तो इससे क्या वे नरकमें गये ? भरतजीने चित्रकूटमें जाकर यह कहा कि 'मैं तो पिताकी तथा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके यहाँ आया हूँ, फिर भी आप मेरी प्रशंसा करते हैं' इसमें कितना ऊँचा ध्येय है। भरतजीको इन लोगोंने जो राज्यपद स्वीकार करनेकी आज्ञा दी, वह भरतजीकी दृष्टिमें न्याययुक्त नहीं थी। इसलिये भरतजीने उसका पालन नहीं किया। इसी प्रकार राजा बलिने भी गुरुकी आज्ञाका त्याग कर दिया था, किंतु इससे वे नरकमें नहीं गये; बल्कि उनको उत्तम पदकी प्राप्ति ही हुई। अतएव यदि कोई नीति, धर्म अथवा ईश्वरकी भक्तिके विपरीत आज्ञा दे और उस पापमयी आज्ञाको हम अनुचित समझकर सबके हितके उद्देश्यसे पालन न करें तो इससे हमें कोई पाप नहीं होता, बल्कि उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। परम भक्त प्रह्लादजीको जब पिताने कहा कि तुम ईश्वरकी भक्ति मत करो, तब उन्होंने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी। इसके अतिरिक्त पिताकी प्रत्येक कठोर-से-कठोर आज्ञाका पालन कर दारुण अत्याचार सहते रहे। पिताने जो भी निर्दय दण्डविधान किया, उन्होंने प्रसन्नताके साथ उसे स्वीकार किया। इसी प्रकार हमें बड़ोंकी अन्य सारी बातें माननी चाहिये, किंतु जो धर्म और ईश्वरकी भक्तिके विरुद्ध हों, उन बातोंको कभी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि बड़ोंको नरकसे बचाने तथा उनका परम हित करनेके लिये उनका न मानना ही उपयुक्त है।

आपके साथ जिनका बराबरका पद है, जो आपकी सखी हैं, जिनके साथ आपका प्रेम है और जिनकी अवस्था आदि समान है,

उनके साथ मैत्रीभावनासे, अपने स्वार्थका त्याग करते हुए उनका हित करके उन्हें हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे सुख पहुँचानेसे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है और अपने उत्तम व्यवहारका उनपर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है, जिससे उनका भी सुधार और उद्धार हो सकता है।

अपनेसे जो छोटे हैं, उनका पालन-पोषण, शिक्षण, संरक्षण तथा शुद्ध मनोरञ्जनरूपी सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये। यही वात्सल्य-भाव है। अपने बालकोंसे भी बढ़कर अपनी देवरानी-जेठानीके बालकोंको अथवा यदि पीहरमें हों तो भाई और बहिनके बालकोंको विशेष सुख पहुँचाना चाहिये। जो कुछ भी मेवा-मिठाई, फल तथा खिलौने आदि हों, अपने बालकोंकी अपेक्षा उनके बालकोंको अधिक, बढ़िया और प्रथम देना चाहिये।

बहुओंका कर्तव्य है कि वे सासको माँसे भी बढ़कर समझें और उनकी आज्ञाका पालन करें। माताकी बात किसी समय न भी मानी जाय तो भी कोई हानि नहीं है, किंतु सासकी बात न माननेसे उनको विशेष दुःख होता है, इसलिये उनकी बात अवश्य माननी चाहिये। जैसे भगवान्‌का भक्त बड़ी सावधानीसे ऐसी चेष्टा किया करता है, जिससे भगवान् शीघ्र प्रसन्न हों, वैसे ही बहूका कर्तव्य है कि वह सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि पूजनीय जनोंको देवताओंसे भी बढ़कर माने और कर्तव्य समझकर उनको हर समय प्रसन्न करनेके लिये निष्काम प्रेमभावसे विशेष प्रयत्न करे तथा यह अनुभव करे कि इन सबमें भगवान् विराजमान हैं और मैं जो

कुछ कर रही हूँ, उसे वे देख रहे हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं।

सासको अपने आश्रित बहू आदिके विषयमें यह समझना चाहिये कि बहू जो अपने माता-पिताको छोड़कर इस घरमें आयी है, वह उसकी लड़कीसे भी बढ़कर स्नेहकी पात्री है। अपनी लड़की और बहूमें कभी कोई अनबन या मतभेद हो जाय तो उसे अपनी पुत्रवधूका पक्ष लेना चाहिये, लड़कीका नहीं। लड़की माँपर कभी नाराज नहीं होती। वह हृदयमें समझती है कि यह मेरी माँ है, यह मेरे विपक्षमें कभी मेरे अहितकी बात नहीं कह सकती। किंतु बहूके हृदयमें तुरंत यह बात आ सकती है कि सास अपनी लड़कीका पक्ष करती है। सास यदि अपनी बेटी और बहूके साथ समान व्यवहार करती है तो भी बहूके चित्तमें यह शङ्का हो सकती है कि यह अपनी लड़कीका पक्ष कर रही है। इससे यही उचित है कि वह बहूके उचित मतका विशेषरूपसे पक्ष करे।

यदि मैं अपने निजी भाइयों या अपने आदमियोंका दूसरे पक्षवालोंके साथ कोई न्याय करने बैठूँगा और वह न्याय यदि नीतिके अनुसार भी करूँगा तब भी दूसरे पक्षवालोंको यह शङ्का हो सकती है कि यह अपने भाइयोंका या अपने आदमियोंका पक्ष करता है। उस स्थलमें यदि मैं प्रतिपक्षियोंका सच्चा पक्ष लूँगा, उनके उचित कथनका समर्थन करूँगा और अपने पक्षवाले यदि उचित भी कहते होंगे तो उस विषयमें मैं कुछ चुप रहूँगा तो प्रतिपक्षियोंपर उसका ऐसा अच्छा असर पड़ेगा कि वे भी हमारे अनुकूल हो जायँगे और जो हमारे हैं वे तो हमारे हैं ही।

एक बातके लिये माता-बहिनोंसे मेरी विशेष प्रार्थना है कि उन्हें अपने स्वार्थके लिये अपने घरके पुरुषों—पीहरवालों या ससुराल-वालोंको किसी चीजके लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। उत्तम बात तो यह है कि कोई अपने पीहरमें आये तो उसे किसी चीजकी माँग नहीं करनी चाहिये। पीहरवाले जितना, जो कुछ देना चाहें, उससे भी कम लेनेकी इच्छा रक्खे और चेष्टा भी वैसी ही करे। इसे सिद्धान्त समझकर इसका पालन करनेकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये। इसी प्रकार अपनी ससुरालमें भी अपने सास-ससुर जो कुछ देना चाहें, उससे कम ही लेनेकी इच्छा रक्खे और चेष्टा भी वैसी ही करे। स्वयं न लेकर, घरमें दूसरोंको, जिन्हें आवश्यकता हो, उन्हें अमुक चीज दिला देनी चाहिये। पीहरमें माता-पिता, भाई जो कुछ देना चाहें, स्वयं उससे कम ले और अभिमानका त्याग करके दूसरी बहिनोंको अधिक दिलानेकी चेष्टा करे। इस प्रकारके व्यवहारसे प्रेम बढ़ता है, फिर लड़ाई-झगड़ा तो कभी हो ही नहीं सकता।

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जो सत्य, प्रिय, हित और मित हो अर्थात् थोड़े वचनोंमें सार-सार बात कहनी चाहिये। फालतू (व्यर्थ) बातें न करनी चाहिये। वाणीमें कठोरता और झूठ नहीं आना चाहिये। किसी दूसरेको दुःख हो, ऐसा वचन भी नहीं बोलना चाहिये। कपटरहित, मधुर, सत्य और हितकारक वचन ही बोलने चाहिये।

स्त्रीको कभी निकम्मी नहीं रहनी चाहिये। उत्तरोत्तर आत्मोन्नतिके लिये शरीरसे सदा काम लेते रहना चाहिये। जो स्त्री

निकम्मी रहती है, उसका आलस्यके कारण पतन हो जाता है। शरीरका एक क्षणका भी कोई भरोसा नहीं है, न मालूम किस समय शान्त हो जाय; इसलिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए ही निःस्वार्थभावसे शरीरसे न्यायोचित काम, दूसरोंको दुःख न हो ऐसे करते ही रहना चाहिये। उत्तम कामकी हर वक्त खोज रखनी चाहिये।

सादगीसे रहना चाहिये। घरवालोंको बढ़िया कपड़े-गहने आदिके लिये न कहे और दबाव तो कभी डाले ही नहीं। वे घरकी परिस्थिति और सुविधाके अनुसार प्रसन्नतासे जो कुछ वस्त्र-आभूषण दें, उसीमें संतुष्ट रहे; बल्कि उससे कम लेनेका भाव रक्खे। स्वयं ऐसे त्यागका व्यवहार करना चाहिये कि जिसका उनपर प्रभाव पड़े और वे भी आपके अनुसार ही सबके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें। स्वार्थ-त्यागकी बड़ी भारी महिमा और सामर्थ्य है। स्वार्थत्यागपूर्वक जो व्यवहार किया जाता है, उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। स्वार्थत्यागके व्यवहारसे दूसरोंको बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है, जिससे वे भी आगे जाकर स्वार्थके त्यागी बन जाते हैं।

मैं यदि आपके साथ स्वार्थका त्याग करके व्यवहार करता रहूँ तो सम्भव है आखिर आपमें भी यह भाव पैदा हो जाय और आप भी मेरे और दूसरोंके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें; यह न्याय है। तथापि अपना सिद्धान्त तो यह रखना चाहिये कि अपने साथ कोई बदलेमें स्वार्थत्यागका व्यवहार न करे तो भी अपनेको तो

स्वार्थ त्यागपूर्वक ही व्यवहार करना है, बल्कि अपने साथ कोई बुराई करे तो भी अपने तो उसका हित ही करना है। स्त्रियों-को इसपर ध्यान देकर ऐसा करना चाहिये।

किसीकी व्यर्थ निन्दा-चुगली कभी न करे तथा किसीमें कोई दोष हो तो भी उस दोषका वर्णन न करे। हाँ, उसके पूछने और आग्रह करनेपर यदि आपके कहनेसे उसका सुधार होनेकी आशा हो और वह बुरा न माने तो ऐसी अवस्थामें उसे बता देना कोई दोषकी बात नहीं है; किंतु जहाँतक हो, बिना पूछे नहीं बताना चाहिये। किसीमें कोई उत्तम गुण हो तो उसका वर्णन किया जा सकता है, पर वह गुण यथार्थमें होना चाहिये; झूठे गुणोंका वर्णन करना उचित नहीं।

किसीको नीचा दिखानेकी चेष्टा कभी न करे और न नीचा दिखानेका मनमें भाव ही रक्खे। किसीका अपमान भी कभी न करे और सबके हितकी चेष्टा करे; किंतु किसीका हित करके, उसे कभी किसीसे न कहे और न मनमें ही उसे याद रक्खे; क्योंकि याद रखनेसे अहङ्कार बढ़ता है और कह देनेसे किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। दूसरा कोई यदि अपने साथ बुरा व्यवहार करे तो उसकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, बल्कि बदलेमें उसका हित करना चाहिये। ऐसा व्यवहार बड़े ही उच्च-कोटिका और सबका हित करनेवाला है।

किसीके भी साथ जो व्यवहार किया जाय, उसमें त्याग, विनय, प्रेम और उदारता होनी चाहिये। इस प्रकारके व्यवहारसे

लोगोंपर निश्चय ही बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है और वे भी अच्छे बनते हैं। जब उत्तम व्यवहारसे परमात्मा प्रसन्न होते और मिलते हैं, तब हमको सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार ही करना चाहिये; क्योंकि फिर यह शरीर, ऐश्वर्य और धन हमारे क्या काम आयेंगे। अपने स्वार्थसाधन या अपने कार्यकी सिद्धिके लिये किसीसे मित्रता करना मित्रता नहीं है। मित्रता तो उसके कल्याणके लिये करनी चाहिये। महात्मा पुरुष किसीसे मित्रता करते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही करते हैं। इसलिये माता-बहिनोंको चाहिये कि महात्माओंके इस मैत्री-व्यवहारको आदर्श मानकर दूसरोंके हितके लिये ही सबके साथ निष्कामभावसे मित्रता करें।

अपने पास कोई उत्तम वस्तु हो तो उसे अपनी सखीको अधिक देना चाहिये और उसको दुःख न हो, इस दृष्टिसे उसकी चीज भी, काम पड़े तब, थोड़ी ले लेनी चाहिये। जैसे उसने फल भेजे, आम भेजे तो थोड़े रख लिये और शेष वापस लौटा दिये। अपने यहाँसे कोई चीज भेजें, तब उसने जो चीज भेजी थी, उससे चौगुने मूल्यकी और उसके उपयोगमें आने योग्य चीज भेजनी चाहिये। अपने पास कोई चीज है और अपनी सखी अपनेसे गरीब है तो कपड़ा और खानेकी चीजें किसी भी बहानेसे उसके घर पहुँचाते रहना चाहिये। वह अस्वीकार करे तो स्वयं जाकर आग्रह करके दे आना चाहिये और बदलेमें, उसको प्रसन्न करनेके लिये उसकी कम कीमतकी वस्तु ले लेनी चाहिये। जैसे वहाँ अंगोछे पड़े देखे तो कहा कि 'ये अंगोछे

तो बहुत बढ़िया हैं। मैं इनमेंसे दो ले लेती हूँ।' उसने कहा—'अवश्य ले जाओ।' दोनों अंगोछोंकी कीमत हुई एक रुपया और उनके बदलेमें उसे दस रुपयेकी साड़ी या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेज दीं। इसपर यदि उसने कहा—'बिना मूल्य यह मैं कैसे रक्खूँ ?' तो कहना चाहिये—'मैं तो तुम्हारे अंगोछे उठाकर ले आयी थी। तुम्हारी-हमारी कोई दो बात थोड़े ही है। तुम्हारी चीज हमारी है और हमारी तुम्हारी है।' उसके घरपर भूँजे चने देखे तो कहा—'बहुत बढ़िया है, लाओ, थोड़ा मुझे भी दो।' भूँजे चने हैं दो पैसेके। माँगकर खा लिये; क्योंकि इसको निमित्त बनाकर अपनेको दस रुपयेकी चीज उसके यहाँ पहुँचानी है। इसी प्रकार जब भी उसके घरपर जाय और घी-चीनी, अनाज-वस्त्र आदि किसी भी चीजकी कमी देखे तो झट पहुँचा दे। इसपर वह कहे कि बिना मूल्य मैं कैसे लूँ तो कह दे कि अपने आपसमें संकोच नहीं करना चाहिये। जब हम परस्पर सखी हैं, तब तुम्हारी चीज है सो हमारी और हमारी है सो तुम्हारी। वस्तुतः ऐसा ही आन्तरिक भाव रखना चाहिये। वह गरीब है, इसलिये उपकार या दयाकी भावनासे नहीं, बल्कि वह सखी है, मित्र है, उसका दुःख मेरा ही दुःख है—उसका मुझपर और मेरी वस्तुओंपर अधिकार है, इस भावनासे उसे वस्तुएँ देनी चाहिये।

लेनेका काम पड़े तो खूब कम लेना चाहिये और वह भी उसके संतोषके लिये, जिससे कि जब अपने कोई चीज उसे दे तो वह मने न कर सके। इसी दृष्टिसे उसकी चीज लेनी चाहिये,

स्वार्थबुद्धिसे नहीं। स्वार्थबुद्धिसे तो सभी लोग लेते हैं। उसके लिये शिक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं। सीखनी तो है स्वार्थत्यागकी बात। इसीसे मुक्ति होती है। स्वार्थसाधनसे मुक्ति होती तो सबकी हो जाती। त्यागका महत्त्व भगवान्के ध्यानसे भी बढ़कर गीतामें बतलाया गया है। १२ वें अध्यायके १२ वें श्लोकके उत्तरार्धमें कहा है—

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

'ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग यानी निष्कामकर्म अर्थात् स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे तत्काल शान्ति मिलती है।' यहाँ त्यागका अभिप्राय है—स्वार्थका त्याग। हमलोग कोई भी कार्य करें, उसमें जो निजी स्वार्थका त्याग है, वह सबसे उत्तम है।

यह शरीर नाशवान् है। इसे पुष्ट करनेमें या सजानेमें पैसे खर्च करना मूर्खता है। उन पैसोंसे दुखी, गरीब अनाथोंकी सेवा करनी चाहिये। हमारे पास जो धन है, उससे आसक्ति हटाकर उसका सदा सदुपयोग करना चाहिये; क्योंकि जब हम मर जायँगे, तब वह धन यहीं रह जायगा—न मालूम, उसकी क्या दशा होगी? थोड़े ही समयके लिये हमको यह अवसर मिला है, ऐसा अवसर बहुत कालतक रहनेका नहीं है। इसलिये शीघ्र ही अपना काम बना लेना चाहिये। अन्तमें न तो यह शरीर रहेगा और न यह ऐश्वर्य तथा धन ही। आज जो हमारे अधिकारमें है, वह सब जल्दी ही हमसे छूटनेवाला है। जैसे समय बीत रहा है, इसी प्रकार ये सब चीजें समयके साथ-साथ चली जा रही हैं। लाख जतन करनेपर भी नहीं रहेंगी। जब अपना शरीर ही रहनेका नहीं

है, तब दूसरी चीजोंकी तो बात ही क्या है। अतएव इन सब पदार्थोंको जगज्जनार्दनकी सेवामें लगाना चाहिये।

हरेक माता-बहिनको यह स्मरण रखना चाहिये कि यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा, इसकी खाक हो जायगी। अतः खाक होनेके पहले-पहले ही इस शरीरका सदुपयोग जगज्जनार्दनकी सेवामें कर लें, जिससे मानव-जन्म सफल हो जाय। जैसे ईश्वरकी सेवा करनेमें प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता सबकी सेवामें होनी चाहिये; क्योंकि सभी परमात्माके स्वरूप हैं या सभीमें परमात्मा विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। इस निष्काम सेवा या स्वार्थत्यागपूर्वक की जानेवाली सेवाको ही निष्कामकर्म कहते हैं। इस निष्काम कर्मसे आत्मा बहुत ही शीघ्र पवित्र होता है और भगवान्‌में सच्चा प्रेम बढ़ता है। इसलिये हमारी सारी क्रियाएँ भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाली होनी चाहिये।

माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे अपने बालक-बालिकाओंके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करें, जिसमें उनका हित हो। उनका हित है विद्या-लाभमें और उत्तम आचरणोंमें; अतः उनको श्रेष्ठ विद्या और उत्तम आचरणोंकी शिक्षा देनी चाहिये। माता-पिता सदाचारी होते हैं तो बालक भी सदाचारी होते हैं। बालकोंके सामने बड़ी सावधानीसे क्रियाके रूपमें सदाचार रखना चाहिये, तभी उनपर असर पड़ता है। आप झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार करेंगे और उनसे कहेंगे कि सत्य बोलो, अहिंसाका पालन करो, चोरी मत करो, ब्रह्मचर्य रक्खो तो इस कथनमात्रका कुछ भी असर नहीं होगा।

इसलिये उनके सामने उत्तम आदर्श रखकर उनको उसी प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये।

विधवा माताओंको चाहिये कि वे अपने जीवनको सर्वथा पवित्र, वैराग्यमय और त्यागयुक्त बनायें। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, हास-विलासका सर्वथा त्याग कर दें। जीवनको तपस्यामय बना लें। मन-इन्द्रियोंका संयम रक्खें। जो स्त्रियाँ ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी आदिमें रत हैं, उनका दर्शन भी न करें। उनके पास न बैठें। समझना चाहिये कि वे विषयभोगरूपी कीचड़में फँसी हुई हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट कर रही हैं। उनका सङ्ग करके अपने जीवनको नष्ट नहीं करना चाहिये। भगवान्‌का भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेमें अपना समय बिताना और निष्कामभावसे लोगोंकी शास्त्रोक्त सेवा करनी चाहिये। शरीरसे हर समय उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये।

सुहागिन माताओंका यह कर्तव्य है कि वे उन विधवा माताओंकी निःस्वार्थभावसे सेवा करें, उनको सच्चे हृदयसे सुख पहुँचावें। विधवा माँ-बहिनको जो दुःख देता है, वह स्त्री हो या पुरुष, उसका इस लोकमें पतन होता है, निन्दा होती है और मरनेपर उसे घोर नरककी प्राप्ति होती है।

विवाह-शादी आदि राजसी कामोंमें विधवा माताओंको स्वयं ही नहीं जाना चाहिये। राजसी उत्सव-समारोहोंसे, नृत्य-गान-वाद्यादिसे दूर ही रहना चाहिये। धार्मिक विषय हो, भक्तिकी बात हो या सत्सङ्ग हो तो उसमें जानेमें कोई दोषकी बात नहीं है, बल्कि लाभ ही है; किंतु यदि कहीं बाहर जाना हो तो चाहे वह

धार्मिक काम ही क्यों न हो, अपने ससुराल या पीहरवालोंके साथ जाना चाहिये, अकेली नहीं। जो स्त्री अकेली घरसे बाहर निकलकर इधर-उधर भटकती है, उसका पतन होनेका भय है। इसलिये स्त्रियोंको कभी स्वतन्त्र नहीं घूमना चाहिये। मनुजी कहते हैं—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

'बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवावस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो (साबालिग) पुत्रोंके अधीन रहे (उनके अभावमें ससुरालवालोंके अधीन होकर रहे); तात्पर्य यह कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले।'

स्मरण करना चाहिये कि मालिक जो पाप करता है, वह उसके अधीन रहनेवालेको नहीं लगता। जैसे कोई पति पाप करता है तो उसका फल पत्नीको नहीं भोगना पड़ता; क्योंकि वह तो पतिके अधीन है। किंतु स्त्री जो पाप करती है, उसका आधा भाग उसके पतिको भोगना पड़ता है; क्योंकि पति शासक है। पुरुष जो पुण्य करता है, उसका आधा स्त्रीको मिलता है; किंतु जो स्त्री पतिके अधीन नहीं रहती, उसको नहीं। जो स्त्री पतिकी सेवा करती है, पतिका साथ देती है, उसी पतिव्रताको आधा पुण्य मिलता है।

अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको पातिव्रत-धर्मके पालनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

मानव-जीवनका सर्वोत्तम उद्देश्य

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य होनेपर भी भोगोंकी आसक्ति और कामनावश मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे वञ्चित रहता है। पशुकी भाँति आहार-निद्रा, भय-मैथुनादिमें ही अपना अमूल्य जीवन खो देता है। यदि कोई मनुष्य उत्तम कर्म करता है तो उसका फल वह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा ही चाहता है। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला साधन तो प्रायः कम ही बनता है। यद्यपि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी उत्तम कर्ममें प्रवृत्त होना केवल विषय-सेवनमें ही लगे रहनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है; परंतु मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी वृत्ति जब मनुष्यके अंदर उत्पन्न हो जाती है

और फूलती-फलती है, तब उसमें दम्भ-पाखण्ड एवं दिखाऊपन आ जाता है। फिर यथार्थमें उत्तम कर्म बनना बंद हो जाता है। केवल बाहरसे उत्तम कर्मका दिखावामात्र रह जाता है। इसलिये मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके लिये ही निष्कामभावसे उत्तम आचरण करना चाहिये। जिसमें लौकिक कामना न हो और जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुप्त भावसे किया जाय, वही उच्चकोटिका साधन समझा जाता है। जैसे श्रीभगवान्‌के नामका जप, वाणीकी अपेक्षा श्वाससे किया जाय तो श्रेष्ठ होता है। मनसे किया जानेवाला उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और भगवान्‌के ध्यानसहित, निरन्तर, श्रद्धापूर्वक, गुप्त तथा निष्काम प्रेम-भावसे किया जाय तो वह सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार किया जानेवाला भगवान्‌के नामका जप बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला होता है।

इसीके साथ-साथ प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि रखते हुए सबकी सेवा की जाय, तो वह भगवत्सेवा ही होती है। मनुष्यके पास विद्या-बुद्धि, धन-दौलत, मकान-जमीन, बल-आयु आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌की वस्तु है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही प्राप्त है। जो मनुष्य निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌की सब वस्तुओंको भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की सेवामें लगाता रहता है, वह निरन्तर भगवान्‌की पूजा ही करता रहता है, पर ऐसा न करके जो लोग उन वस्तुओंमें अपना ममत्व मानकर उनके द्वारा इस नश्वर शरीरको सुख पहुँचाना चाहते हैं और भोग-वासनाकी पूर्तिके लिये मोहवश झूठ-कपट, दम्भ-छल, चोरी-बेईमानी आदि करते हैं, वे तो मानव-जीवनका सर्वथा दुरुपयोग करते हैं और उन्हें इसका बहुत ही

बुरा फल भोगनेको बाध्य होना पड़ेगा। पाप-कर्म करनेवालोंकी अपेक्षा तो सकाम भावसे भगवान्‌का भजन करनेवाले और देवाराधन करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, परंतु उससे आत्मकल्याण नहीं होता; अतएव साधकको निष्कामभावसे ही भगवान्‌के शरणापन्न होना चाहिये। समस्त दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुराचारोंका त्याग करके, इन्द्रिय और मनका संयम करते हुए तथा प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ध्यान करते हुए भगवान्‌की सेवाके भावसे ही निष्कामभावपूर्वक समस्त कार्य करने चाहिये। सेवाको परम सौभाग्य मानना चाहिये। मनुष्यका शरीर भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भगवान्‌की सेवाके लिये ही मिला है।

प्रात:काल और सायंकाल नियमित रूपसे जो लोग साधन करते हैं—नित्यकर्म, पूजा-पाठ, संध्या-वन्दन, जप-ध्यान आदि करते हैं, सो बहुत ही उत्तम है; परंतु उसमें भी सुधारकी बड़ी आवश्यकता है। अश्रद्धापूर्वक केवल बेगार समझकर ही या लोगोंको दिखानेके लिये जो साधन या आराधन आदि किया जाता है, वह उत्तम फल देनेवाला नहीं होता। श्रद्धा, विश्वास, धैर्य और आदर-बुद्धिसे जो साधन होता है, वही उत्तम फलदायक हुआ करता है। उसमें निष्कामभाव हो, विषयोंके प्रति वैराग्य और भगवान्‌में अनन्य अनुराग हो, तब तो वह भगवत्प्राप्तिका प्रत्यक्ष साधन बन जाता है। अतएव प्रात:काल और संध्याके समय जो साधन होता है, उसमें उपर्युक्त प्रकारसे सुधारके साथ-साथ प्रयत्न ऐसा होना चाहिये कि दिनभरके सारे काम प्रेमसहित निष्कामभावसे भगवत्पूजाके ही रूपमें होने लगें।

रात्रिके समय शयनकालमें सब ओरसे वृत्तियोंको हटाकर भगवान्-

के नाम-रूपका और उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका स्मरण करते हुए शयन करना चाहिये। इस प्रकार जो शयन किया जाता है, वह सोनेका समय भी साधनके रूपमें परिणत हो जाता है।

मनुष्यकी बुद्धिमानी इसीमें है कि वह अपने जीवनका एक-एक क्षण अपने कल्याणके लिये ही लगावे। यह काम उसे स्वयं ही करना है और जबतक मनुष्य-शरीर है, तभीतक इसे किया जा सकता है। मरनेके बाद दूसरा कोई इस कामको कर दे, यह सर्वथा असम्भव है। संसारके काम तो मनुष्यके मरनेके बाद भी दूसरोंके द्वारा सिद्ध हो सकते हैं। जैसे धन, मकान, जमीन, गहने, कपड़े और रुपये आदि तमाम चीजें उत्तराधिकारी अपने-आप सँभाल लेते हैं, इसके लिये कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। चिन्ता तो करनी है आत्मकल्याणके लिये, जिसका मरनेके बाद उत्तराधिकारीके द्वारा सिद्ध होना सम्भव नहीं है। इस कामको तो जीते-जी ही कर लेना चाहिये। यही मानव-जीवनका सर्वोत्तम उद्देश्य है। मनुष्यको यह ख्याल करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है और मैं क्या कर रहा हूँ? उसे यह समझना चाहिये कि मैं ईश्वरका अंश हूँ और यह संसार प्रकृतिका कार्य है। मेरा यहाँ आना ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये है, न कि संसारके भोग भोगनेके लिये। जो मनुष्य दुर्लभ मानव-देह पाकर संसारके भोगोंमें ही अपने जीवनको बिता देता है, वह मूर्ख अमृत त्यागकर विष-पान करता है।

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

संत-महापुरुषोंके सिद्धान्त

परमात्माकी प्राप्तिके विभिन्न मार्ग

अद्वैत-सिद्धान्त

अद्वैतवादी संतोंका यह सिद्धान्त है कि प्रथम शास्त्रविहित कर्मोंमें फलासक्तिका त्याग करके कर्मयोगका साधन करना चाहिये; उससे दुर्गुण, दुराचाररूप मलदोषका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; तदनन्तर भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करना चाहिये, उससे विक्षेपका नाश होता है। इसके बाद आत्माके यथार्थ ज्ञानसे आवरणका नाश होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। वेदान्त-सिद्धान्तके इन आचार्योंका यह क्रम बतलाना शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त है। इसके सिवा, केवल ज्ञानसे, केवल भक्तिसे और केवल निष्काम कर्मसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। अतः इस मार्गके अधिकारी साधकोंके लिये यह आचरण करनेयोग्य है।

निष्काम कर्मयोग

इसी प्रकार केवल निष्काम कर्मयोगके साधनसे भी अन्तः-करणकी शुद्धि होकर अपने-आप ही परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उस परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कोई भी पदार्थ नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
(३। १९, २० का पूर्वार्ध)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
(५। ५ का पूर्वार्ध)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।'

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(५। ६ का उत्तरार्ध)

'कर्मयोगी मुनि परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

भक्तिमिश्रित कर्मयोग

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और यह सर्वथा उपयुक्त ही है। जब केवल निष्काम कर्मयोगसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब भक्तिमिश्रित कर्म-

योगसे हो, इसमें तो कहना ही क्या है। इस विषयमें भी स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मों-द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

भगवद्भक्ति

इसके अतिरिक्त, केवल भगवद्भक्तिसे ही अनायास स्वतन्त्रतापूर्वक मनुष्योंका कल्याण हो जाता है। गीतामें इसको सर्वोत्तम बतलाया है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७।१४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसागरसे तर जाते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(१२ । २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(१८ । ६५)

'हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ।'

इसी प्रकार गीतामें और भी बहुत-से श्लोक हैं; किंतु लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये नहीं दिये गये ।

भक्तिमार्गके संतोंका ऐसा कथन है कि प्रथम कर्मयोगसे

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, फिर आत्मज्ञानसे जीवको आत्माका ज्ञान प्राप्त होता है, तदनन्तर परमात्माकी भक्तिसे परमात्माका ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। भक्तिमार्गके इन आचार्योंकी पद्धतिके अनुसार इनका भी यह क्रम बतलाना बहुत ही उचित है। इस मार्गके अधिकारी साधकोंको इसीके अनुसार आचरण करना चाहिये।

आत्मज्ञान

इसी प्रकार केवल आत्मज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जब निष्काम कर्मके द्वारा ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब आत्म-ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होनेमें तो कहना ही क्या है। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४। ३४-३५)

'उस तत्त्वज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले

अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ (५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं ।'

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ (५ । २४)

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ।'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (६ । २९)

'सर्वव्यापी अनन्तचेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है ।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (१३ । ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ (१४ । १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघन-स्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । वह भगवान्‌की भक्ति करे तो उत्तम है; परंतु वह इसके लिये बाध्य नहीं है ।

दुर्गुण-दुराचारोंके रहते मुक्ति नहीं होती

यहाँ एक और भी सिद्धान्तकी बातपर विचार किया जाता है । कुछ सज्जन ऐसा मानते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारोंके रहते हुए भी ज्ञानके द्वारा मुक्ति हो जाती है; परंतु यह बात न तो शास्त्र-सम्मत है और न युक्तिसंगत ही । लोगोंको इस भ्रममें कदापि नहीं पड़ना चाहिये । यह सर्वथा सिद्धान्तविरुद्ध बात है । ऐसे दोषयुक्त लोगोंको तो स्वयं भगवान्‌ने गीतामें आसुरी सम्पदावाला बतलाया

है (गीता अध्याय १६ श्लोक ४ से १९ तक देखिये) और इनके लिये आसुरी योनियोंकी प्राप्ति, दुर्गति और घोर नरककी प्राप्तिका निर्देश किया है। भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २०-२१)

'हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं। काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

जो इन दुर्गुणों और विकारोंसे रहित हैं, वे ही भगवान्के सच्चे साधक हैं और वे ही उस परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(१६। २२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
(१२। १५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

संत तुलसीदासजी भी कहते हैं—

काम क्रोध मद लोभ की जब लगि मन महँ खान।
तुलसी पंडित मूरखा दोनों एक समान॥

इससे यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि दुर्गुण और दुराचारके रहते हुए कोई भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता। यही अटल सिद्धान्त है।

ईश्वर, परलोक और पुनर्जन्म सत्य हैं

कुछ लोग यह कहते हैं कि 'न तो ईश्वर है और न परलोक है तथा न भावी जन्म ही है। पाँच जड भूतोंके इकट्ठे होनेपर उसमें एक चेतनशक्ति आ जाती है और उसमें विकार होनेपर वह फिर नष्ट हो जाती है।' यह कहना भी बिल्कुल असंगत है। हम देखते हैं कि देहमें पाँच भूतोंके विद्यमान रहते हुए भी चेतन जीवात्मा चला जाता है और वह पुनः लौटकर वापस नहीं आ सकता। यदि पाँच भूतोंके मिश्रणसे ही चेतन आत्मा प्रकट होता हो तो ऐसा आजतक किसीने न तो करके दिखाया ही और न कोई दिखला ही सकता है। अतः यह कथन भी सर्वथा अयुक्त और त्याज्य है। जीव इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है।

गीतामें भी देहान्तरकी प्राप्ति होनेकी बात स्वयं भगवान्‌ने कही है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(२ । १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

अतएव उन लोगोंका उपर्युक्त कथन शास्त्रसे भी असंगत है; क्योंकि मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है तथा परलोक और पुनर्जन्म भी है।

इसी प्रकार उनका यह कथन भी भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर नहीं है; क्योंकि—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पदार्थोंकी रचना और उनका संचालन एवं जीवोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको यथास्थान स्थापित करना ईश्वरके बिना कदापि सम्भव नहीं है। संसारमें जो भौतिक विज्ञान (Science) के द्वारा यन्त्रादिकी

रचना देखी जाती है, उन सभीका किसी बुद्धिमान् चेतनके द्वारा ही निर्माण होता है। फिर यह जो इतना विशाल संसार-चक्ररूप यन्त्रालय है, उसकी रचना चेतनकी सत्ताके बिना जड प्रकृति (Nature) कभी नहीं कर सकती।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि इसका जो उत्पादक और संचालक है, वही ईश्वर है।

गीतामें भी लिखा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८। ६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

शुक्लयजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके प्रथम मन्त्रमें बतलाया है—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके सहित अर्थात् उसको याद रखते हुए त्यागपूर्वक (उसीके समर्पण करके) इसे भोगते रहो, इसकी इच्छा मत करो; क्योंकि धन-ऐश्वर्य किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है।'

पूर्व और भावी जन्म न मानकर बिना ही कारण जीवोंकी

उत्पत्ति माननेसे ईश्वरमें निर्दयता और विषमताका दोष भी आता है; क्योंकि संसारमें किसी जीवको मनुष्यकी और किसीको पशु आदिकी योनि प्राप्त होती है। कोई जीव सुखी और कोई दुखी देखा जाता है। अतः जीवोंके जन्मका कोई सबल और निश्चित हेतु होना चाहिये। वह हेतु है पूर्वजन्मके गुण और कर्म। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
(४। १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरेद्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भावी जन्म है।

मुक्त पुरुष लौटकर नहीं आते

कितने ही लोग यह मानते हैं कि 'जीव मुक्त तो होते हैं; किंतु महाप्रलयके बाद पुनः लौटकर वापस आ जाते हैं।' पर उनकी यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि श्रुतियोंकी यह स्पष्ट घोषणा है—

न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते।
(छान्दोग्य० ८। १५। १)

'(मुक्त हो जानेपर पुरुष) फिर वापस लौटकर नहीं आता, वह पुनः वापस लौटकर आता ही नहीं।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥
(८ । १६)

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं ।'

यदि यह मान लिया जाय कि मुक्त होनेपर भी प्राणी वापस आता है तो फिर स्वर्गप्राप्ति और मुक्तिमें अन्तर ही क्या रहा ? इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि लोकान्तरोंमें गया हुआ जीव ही लौटकर आता है, जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है या यों कहो मुक्त हो जाता है, वह नहीं आता । युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है । जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर जीवकी चिज्जडग्रन्थि खुल जाती है, उसके सारे कर्म और संशयोंका सर्वथा नाश हो जाता है तथा प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, ऐसी स्थितिमें गुण, कर्म और अज्ञानके सम्बन्ध बिना जीव वापस नहीं आ सकता । मुक्त तो यथार्थमें वही है, जिसके पूर्वके गुण और कर्म तथा संशय और भ्रमका सर्वथा विनाश हो चुका है ।

ऐसा होनेपर पूर्वके गुण और कर्मोंसे सम्बन्ध रहे बिना उसका किसी योनिमें जन्म लेना और सुख-दुःखका उपभोग करना—सर्वथा असंगत और असम्भव है ।

यदि कहें कि 'इस प्रकार जीव मुक्त होते रहेंगे तो शनैः-

शनैः सभी मुक्त हो जायँगे ।' तो यह ठीक है। यदि शनैः-शनैः सभी मुक्त हो जायँ तो इसमें क्या हानि है? अच्छे पुरुष तो सबके कल्याणके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते ही रहते हैं।

सभी देश, सभी काल, सभी आश्रमोंमें मनुष्य-मात्रकी मुक्ति हो सकती है

कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि 'इस देशमें, इस कालमें और गृहस्थ-आश्रममें मुक्ति नहीं होती।' यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मान लेनेपर तो परमात्माकी प्राप्ति असम्भव-सी हो जाती है, फिर मुक्तिके लिये कोई प्रयत्न ही क्यों करेगा? इससे तो फिर प्रायः सभी मुक्तिसे वञ्चित रह सकते हैं। अतः इनका कहना भी शास्त्रसंगत और युक्तिसंगत नहीं है। सत्य तो यह है कि मुक्ति ज्ञानसे होती है और ज्ञान होता है साधनके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर, एवं साधन सभी देशमें, सभी कालमें, सभी वर्णाश्रममें हो सकते हैं।

भारतवर्ष तो आत्मोद्धारके लिये अन्य देशोंकी अपेक्षा विशेष उत्तम माना गया है। श्रीमनुजी कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे अखिल भूमण्डलके मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।'

अतः यह कहना कि इस देशमें मुक्ति नहीं होती, अनुचित

है। इसी प्रकार यह कहना भी अनुचित है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती।

क्योंकि मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान्‌ने बतलाया है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

विष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायमें एक कथा आती है। एक बार बहुत-से मुनिगण महामुनि श्रीवेदव्यासजीके पास कुछ प्रश्नोंका उत्तर जाननेके लिये आये। उस समय श्रीवेदव्यासजी गङ्गामें स्नान कर रहे थे। उन्होंने मुनियोंके मनके अभिप्रायको जान लिया और गङ्गामें डुबकी लगाते हुए ही वे कहने लगे—'कलियुग श्रेष्ठ है, शूद्र श्रेष्ठ हैं, स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।' फिर उन्होंने गङ्गाके बाहर निकलकर मुनियोंसे पूछा—'आपलोग यहाँ कैसे पधारे हैं?' मुनियोंने कहा—

कलिः साध्विति यत्प्रोक्तं शूद्रः साध्विति योषितः।
यदाह भगवान् साधु धन्याश्चेति पुनः पुनः॥

(६। २। १२)

'भगवन्! आपने जो स्नान करते समय पुनः-पुनः यह कहा था कि कलियुग श्रेष्ठ है, शूद्र श्रेष्ठ है, स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य हैं, सो इसका क्या कारण है?'

इसपर श्रीवेदव्यासजी बोले—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(६।२।१५—१७)

'हे ब्राह्मणो! तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदिका जो फल सत्ययुगमें दस वर्षतक अनुष्ठान करनेपर मनुष्य प्राप्त करता है, वही फल मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो परमात्माकी प्राप्ति सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें पूजा करनेसे होती है, वही कलियुगमें श्रीभगवान्‌के नाम-कीर्तन करनेसे हो जाती है।'

यहाँ अन्य सब कालोंकी अपेक्षा कलियुगकी विशेषता बतलायी गयी है। इसलिये इस कालमें मुक्ति नहीं होती, यह बात शास्त्रसे असंगत है।

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अब शूद्र क्यों श्रेष्ठ हैं, यह बतलाते हैं—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद् धनैः॥

द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् ।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः ॥
(६ । २ । १९, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना चाहिये और फिर स्वधर्मके अनुसार उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करना कर्त्तव्य है; (इस प्रकार करनेपर वे अत्यन्त क्लेशसे अपने पुण्यलोकोंको प्राप्त करते हैं ।) किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र तो द्विजाति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी सेवा करनेसे अनायास ही अपने पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है; इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है ।'

अब स्त्रियोंको किसलिये श्रेष्ठ कहा, सो बतलाते हैं—

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा ।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः ॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा ।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः ॥
(६ । २ । २८-२९)

'हे ब्राह्मणो ! अपने पतिके हितमें रत रहनेवाली स्त्रियाँ तो तन-मन-वचनके द्वारा पतिकी सेवा करनेसे ही पतिके समान शुभ लोकोंको अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं, जो कि पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं । इसीलिये मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं ।'

इसी प्रकार वैश्यके लिये भी अपने धर्मके पालनसे मुक्तिका प्राप्त होना शास्त्रोंमें बतलाया गया है । पद्मपुराण, सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें तुलाधार वैश्यके विषयमें भगवान्ने स्वयं कहा है कि

"उसने कभी मन, वाणी या क्रियाद्वारा किसीका कुछ बिगाड़ नहीं किया, वह कभी असत्य नहीं बोला और उसने किसीसे द्वेष नहीं किया। वह सब लोगोंके हितमें तत्पर रहता है, सब प्राणियोंमें समान भाव रखता है तथा मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है। लोग जौ, नमक, तेल, घी, अनाजकी ढेरियाँ तथा अन्यान्य संगृहीत वस्तुएँ उसकी जबानपर ही लेते-देते हैं। वह प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी सत्य छोड़कर कभी झूठ नहीं बोलता। अतः वह 'धर्म-तुलाधार' कहलाता है। उसने सत्य और समतासे तीनों लोकोंको जीत लिया है, इसीलिये उसपर मुनिगणोंके सहित पितर तथा देवता संतुष्ट रहते हैं। धर्मात्मा तुलाधार उपर्युक्त गुणोंके कारण ही भूत और भविष्यकी सब बातें जानता है *। बुद्धिमान् तुलाधार धर्मात्मा है तथा सत्यमें प्रतिष्ठित है। इसीलिये देशान्तरमें होनेवाली बातें भी उसे ज्ञात हो जाती हैं। तुलाधारके समान प्रतिष्ठित व्यक्ति देवलोकमें भी नहीं है।"

वह तुलाधार वैश्य उपर्युक्त प्रकारसे अपने धर्मका पालन करता हुआ अन्तमें अपनी पत्नी और परिकरोंसहित विमानमें बैठकर विष्णुधामको चला गया।

इसी प्रकार 'मूक' चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवा करके उसके प्रभावसे भगवान्‌के परम धाममें चला गया। वह माता-पिताकी

---

* सत्येन समभावेन जितं तेन जगत्त्रयम्।
तेनातृप्यन्त पितरो देवा मुनिगणैः सह॥
भूतभव्यप्रवृत्तं च तेन जानाति धार्मिकः।
(४७। ९२-९३)

सेवा किस प्रकारसे किया करता था, इसका पद्मपुराण-सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें बड़ा सुन्दर वर्णन है। वहाँ बतलाया है कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा रहता था। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने माँ-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके पश्चात् पान खिलाता और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रति दिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसन्त ऋतुमें महुएके पुष्पोंकी सुगन्धित माला पहनाता था। इनके सिवा और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था। गरमीकी मौसिममें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था। इस प्रकार नित्यप्रति उनकी परिचर्या करके ही वह भोजन करता था। माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था।

इन पुण्यकर्मोंके कारण उस चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खंभेके ही आकाशमें स्थित था। उसके अंदर त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजमान रहते थे। वे सत्यस्वरूप परमात्मा अपने महान् सत्त्वमय तेजस्वी विग्रहसे उस चाण्डालके घरकी शोभा बढ़ाते थे।

उसी प्रसङ्गमें एक शुभा नामकी पतिव्रता स्त्रीका आख्यान भी आया है। जब तपस्वी नरोत्तम ब्राह्मण मूक चाण्डालके कथनानुसार पतिव्रताके घर गया और उसके विषयमें पूछने लगा तो अतिथिकी आवाज सुनकर वह पतिव्रता घरके दरवाजेपर आकर खड़ी हो गयी।

उस समय ब्राह्मणने कहा—'देवि ! तुमने जैसा देखा और समझा है, उसके अनुसार स्वयं ही सोचकर मेरे लिये प्रिय और हितकी बात बतलाओ ।' शुभा बोली—'ब्रह्मन् ! इस समय मुझे पतिदेवकी सेवा करनी है, अतः अवकाश नहीं है; इसलिये आपका कार्य पीछे करूँगी, इस समय तो आप मेरा आतिथ्य ग्रहण कीजिये ।' नरोत्तमने कहा—'मेरे शरीरमें इस समय भूख, प्यास और थकावट नहीं है, मुझे अभीष्ट बात बतलाओ, नहीं तो मैं तुम्हें शाप दे दूँगा ।' तब उस पतिव्रताने भी कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! मैं बगुला नहीं हूँ, आप धर्म-तुलाधारके पास जाइये और उन्हींसे अपने हितकी बात पूछिये ।' यों कहकर वह पतिव्रता अपने घरके भीतर चली गयी । अपने धर्मपालनमें कितनी दृढ़ निष्ठा है ! इस पातिव्रत्यके प्रभावसे ही वह देशान्तरमें घटनेवाली घटनाओंको भी जान लेती थी और उसके घरमें भी भगवान् ब्राह्मणका रूप धारण करके रहते थे; इस प्रकार पतिसेवा करती हुई अन्तमें वह अपने पतिके सहित भगवान्‌के परम धाममें चली गयी । ऐसे ही द्रौपदी, अनसूया, सुकला आदि और भी बहुत-सी पतिव्रताएँ ईश्वरकी भक्ति और पातिव्रत्यके प्रभावसे परम पदको प्राप्त हो चुकी हैं ।

इसी प्रकार सत् शूद्रोंमें संजय, लोमहर्षण, उग्रश्रवा आदि सूत भी परम गतिको प्राप्त हुए हैं तथा निम्न जातियोंमें गुह, केवट, शबरी (भीलनी) आदि मुक्त हो गये हैं ।

जब स्त्री, वैश्य और शूद्रोंकी तथा पापयोनि—चाण्डालादि गृहस्थियोंकी मुक्ति हो जाती है, तब फिर उत्तम वर्ण और उत्तम आश्रमवालोंकी मुक्ति हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है ?

शास्त्रोंके इन प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सभी देश, सभी काल और सभी जातिमें मनुष्यका कल्याण हो सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह चाहे किसी भी देशमें हो, किसी भी कालमें हो और किसी भी जाति, वर्ण और आश्रममें हो, उसीमें शास्त्रविधिके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करता हुआ ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग---किसी भी अपनी रुचि और अधिकारके अनुकूल साधनके द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेका श्रद्धापूर्वक तत्परतासे पूरा प्रयत्न करे ।

निराश नहीं होना चाहिये

पहले हमारे मनमें कई विचार हुए थे; किंतु अभीतक विचारके अनुसार कोई काम नहीं हुआ । एक तो ऐसा विचार हुआ था कि संसारमें तीन श्रेणीके मनुष्य तैयार हों---भक्तियोगी, कर्मयोगी और ज्ञानयोगी। ज्ञानके द्वारा जिन्होंने आत्माका उद्धार कर लिया, वे ज्ञानयोगी; भक्तिके द्वारा जो भगवान्‌को प्राप्त करके मुक्त हो गये, वे भक्तियोगी; और निष्कामभावसे कर्म करके जो मुक्त हो गये, वे कर्मयोगी हैं । यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आने लगे कि 'इस समूहमें सभी ज्ञानयोगी हैं; इस समूहमें सभी भक्तियोगी हैं और इस समूहमें सभी कर्मयोगी हैं ।' ऐसा मनका विचार था, परंतु समूहकी तो बात दूर रही, अपने लोगोंमें दो-चार भी ऐसे पुरुष तैयार नहीं हुए । यह खेदकी बात अवश्य है, परंतु अभीतक ऐसे पुरुषोंका निर्माण न होनेपर भी मनमें कभी निराश नहीं होना

चाहिये। मनुष्यको सदा आशावादी ही रहना चाहिये।

अब हमलोगोंमें बहुत-से भाई मृत्युके समीप पहुँच रहे हैं और यह उपर्युक्त बात अभीतक विचारमें ही रही, कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सकी। मुझे तो यही समझना चाहिये कि यह मेरी कमी है। मुझमें कोई ऐसा प्रभाव नहीं कि जिससे दूसरे पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो सके यानी मुझमें ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं कि मैं दूसरोंको मुक्त कर सकूँ। एवं जितने सुननेवाले भाई हैं, उन लोगोंको यही समझना चाहिये कि हम जो शास्त्रकी बातें सुनते हैं, उनको काममें नहीं लाते; इसीलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित हैं।

श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराणोंकी अर्थात् उपनिषद्, गीता, महाभारत, रामायण, भागवत आदिकी जो बातें हैं, वे अवश्य कल्याण करनेवाली हैं। मैं तो केवल उनका अनुवादमात्र कर देता हूँ। यह बात नहीं कि आपलोगोंके लिये तो इनका पालन करना कर्तव्य है और मेरे लिये नहीं। ऐसा मैं नहीं कहता। गीता तो साक्षात् ईश्वरके वचन हैं और अन्य सब शास्त्र ऋषि-मुनियोंके। उन शास्त्रोंके वचनोंको कोई भी काममें लायें तो उनका कल्याण हो सकता है। आपलोग काममें लायें तो आपलोगोंका कल्याण हो सकता है और यदि मैं काममें लाऊँ तो मेरा। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि जो कुछ मैं कहता हूँ, उन सभी बातोंको मैं स्वयं आचरणमें लाकर ही कहता हूँ; किंतु उनको आचरणमें लाना उत्तम समझता हूँ, अतः आचरणमें लानेके लिये हमलोगोंको प्रयत्न करना चाहिये। फिर भी मैं निराश नहीं हूँ और मुझको निराश होना भी

नहीं चाहिये। आपलोगोंको भी निराश नहीं होना चाहिये कि इतने दिनोंतक हमलोग आचरणमें नहीं ला सके तो भविष्यमें शायद ही ला सकें। मनमें थोड़ी भी निराशा हो जाती है तो कार्य सफल नहीं होता। अतः सबको बड़े ही धैर्य, उत्साह और तेजीके साथ भगवान्‌की तथा ऋषियोंकी आज्ञाका कर्तव्य समझकर पालन करते ही रहना चाहिये। एवं दूसरोंसे पालन करानेकी भी प्रेमपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि गीतामें अठारहवें अध्यायके ६८ वें, ६९ वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे भावोंका जो संसारमें प्रचार करता है अर्थात् जो गीता-शास्त्रका प्रचार करता है, वह मेरी परम भक्ति करके मुझको प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, उसके समान मेरा प्यारा काम करनेवाला दुनियामें न कोई हुआ, न कोई है और न कोई भविष्यमें होगा।' इन बातोंपर ध्यान देकर हम भगवान्‌के भावोंका प्रचार करें तो उससे अपना कल्याण तो निश्चित है ही, दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये मुझको तो यही आशा रखनी चाहिये कि आपलोगोंकी जो स्थिति और साधन है, वह उत्तरोत्तर विशेष प्रबल हो सकता है और आपलोगोंको भी मनमें खूब उत्साह लाकर अपनी स्थिति और साधन जिस तरहसे तेज हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌की तो कृपा है ही, उनकी तो हर समय ही सहायता रहती है। भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार जो कोई चलता है और चलना चाहता है, भगवान् उसकी सब प्रकारसे सहायता करते हैं।

हम देख रहे हैं कि जो मनुष्य सरकारकी आज्ञाका पालन

करना चाहता है, सरकार उसकी हर प्रकारसे सहायता करती है; फिर भगवान् सहायता करें, इसमें तो कहना ही क्या है। केवल हमारा ध्येय—लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम भगवान्‌की और महापुरुषोंकी आज्ञाका परम कर्तव्य समझकर पालन करें। शास्त्रोंमें यह बात देखी गयी है कि जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, महात्माओंकी और ईश्वरकी कृपासे उसके कार्यकी सिद्धि हो जाती है।

कर्तव्य-पालनसे मुक्ति

जबालाके पुत्र सत्यकामने महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन किया। उसने यह निश्चय कर लिया कि जो बात गुरुजीने कही है, उसका अक्षरशः पालन करना चाहिये। वह अपना कर्तव्य समझकर उसके पालनके लिये तत्पर हो गया और मन लगाकर उसने वह कार्य किया। गौओंकी सेवा करते-करते ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी। गुरुने चार सौ दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा था कि तू इन गौओंके पीछे जा और इनकी सेवा कर। कितने आश्चर्यकी बात है ? देखनेमें तो यह कोई ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन नहीं है। वह तो आया था गुरुकी सेवामें परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और गुरुने कह दिया कि तुम गौओंके पीछे जाओ। पर उसको यह दृढ़ विश्वास था कि गुरुकी आज्ञाका पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप अवश्य होगी। गुरुजी जो कुछ कहते हैं, मेरे कल्याणके लिये ही कहते हैं। उसको यह पूरा निश्चय था। नहीं तो, वह इस प्रकार कैसे करता। उसका परिणाम भी परम कल्याण-

कारी हुआ । उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और आगे चलकर वह भी एक उच्च कोटिका आचार्य बन गया । उसके पास भी विद्यार्थी लोग शिक्षा लेनेके लिये आने लगे । उसको यह विश्वास था कि जैसे मुझको अपने-आप ही गुरुकी कृपासे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, इसी प्रकार मेरे समीप रहनेवालोंको भी हो जानी चाहिये ।

उपकोसल नामका उसका एक शिष्य था । उसको गुरुकी तथा अग्नियोंकी सेवा करते-करते बारह वर्ष बीत गये; किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंको तो समावर्तनसंस्कार करके विदा कर दिया, केवल उसीको नहीं किया । तब एक दिन सत्यकामसे उनकी धर्म-पत्नीने कहा—'स्वामिन् ! यह ब्रह्मचारी बड़ी तपस्या कर चुका है । इसने आपकी और अग्नियोंकी भी भलीभाँति सेवा की है । अतः इसे ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये ।' परंतु सत्यकाम उसे उपदेश दिये बिना ही बाहर वनकी ओर चले गये; क्योंकि उनको यह पूरा विश्वास था कि 'यह श्रद्धालु है और कर्तव्यका पालन कर रहा है, इसलिये इसे अपने-आप ही निश्चय ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी ।' पत्नीके अनुरोध करनेपर भी वे अपने निश्चयपर डटे रहे और ब्रह्मका उपदेश दिये बिना ही चले गये । इससे उपकोसलने अपने-आपको अयोग्य समझा और दुखी होकर यह निश्चय किया कि जबतक मुझे गुरुजी ब्रह्मका उपदेश नहीं देंगे, तबतक मैं उपवास रक्खूँगा । तदनन्तर, गुरुपत्नीने उससे भोजनके लिये आग्रह किया, किंतु उसने मानसिक व्याधि बताकर भोजन नहीं किया ।

अग्निशालामें तीन कुण्डोंमें तीन अग्नियाँ होती हैं—

१ गार्हपत्याग्नि, २ दक्षिणाग्नि, ३ आहवनीयाग्नि । जिसमें नित्य हवन किया जाता है, उसका नाम आहवनीय-अग्नि है । पूर्णमासी तथा अमावास्याके दिन जिसमें हवन किया जाता है, वह दक्षिणाग्नि है और जिसमें बलिवैश्वदेव आदि किया जाता है, वह गार्हपत्याग्नि है । गार्हपत्यका मतलब है कि जिससे गृहस्थका काम चले । जब मनुष्यका विवाह होता है, तब विवाहमें हवनकी अग्नि श्वशुरके यहाँसे लायी जाती है। यदि कदाचित् वहाँसे न लायी गयी हो तो गुरुगृहसे लायी जा सकती है और जीवनपर्यन्त उसमें वह बलिवैश्वदेव आदि करता रहता है तथा मरनेके बाद उसी अग्निमें उसकी दाहक्रिया—अन्त्येष्टि-क्रिया होती है । विवाहसे लेकर मरणपर्यन्त वह अग्नि अटल रहती है, उसे निरन्तर कायम रक्खा जाता है ।

वे तीनों अग्नियाँ अग्निशालामें हवनकुण्डसे प्रकट हुईं और आपसमें उनकी इस प्रकार बातें होने लगीं कि यह उपकोसल नामका लड़का हमलोगोंकी भी बड़ी भारी सेवा करता है । इसलिये इसको हमलोग ब्रह्मका उपदेश करें । फिर गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-अग्नियोंने क्रमशः उसे ब्रह्मका उपदेश दिया, जिससे उसे ब्रह्मका ज्ञान हो गया ।

उसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होनेके पश्चात् गुरुजी भी वनसे लौटकर आये । गुरुजीने उपकोसलसे कहा—'तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान शान्त जान पड़ता है, तुझे किसने ब्रह्मका उपदेश किया है ?' उपकोसलने अँगुलियोंसे अग्नियोंकी ओर संकेत करके बतलाया कि 'इन अग्नियोंने मुझको उपदेश दिया है ।' सत्यकामने पूछा—'उन्होंने

क्या उपदेश दिया ?' उपकोसलने, अग्नियोंने ब्रह्मविषयक जो कुछ उपदेश दिया था, वह ज्यों-का-त्यों सुना दिया और कहा कि 'अब कृपया आप बतलाइये ।' इसपर सत्यकामने उसे विस्तारके साथ ब्रह्मका उपदेश दिया ।

सत्यकामके हृदयमें कितना दृढ़ विश्वास था कि निश्चय ही उपकोसलको अपने-आप ही ब्रह्मकी प्राप्ति होगी । यह दृढ़ विश्वास इसीलिये था कि उन्हें स्वयं इसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति हुई थी । इससे हमलोगोंको समझना चाहिये कि मनुष्य जब अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, तब एक दिन अवश्य ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसके लिये सत्यकामका वह उदाहरण आदर्श है । सत्यकामके गुरुजी महापुरुष थे; उनकी कृपासे सत्यकामको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और महात्मा सत्यकामकी सेवा करनेपर उनकी कृपासे उपकोसलको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी ।

जो साधक महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, उसको उनकी कृपासे निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । फिर जो भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के अनन्यशरण होकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसका कल्याण होनेमें तो कहना ही क्या है ?

भक्त प्रह्लाद निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करते रहे । उन्होंने कभी दर्शन देनेके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की । उनपर भारी-से-भारी अत्याचार होते रहे; किंतु उन्होंने कभी अपने

कर्तव्य-पालनसे मुँह नहीं मोड़ा। इस प्रकार करते-करते एक दिन वह आया, जब कि स्वयं भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये और प्रह्लादसे कहा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः॥

'प्रिय वत्स! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्त दैत्यके द्वारा की हुई तुझपर दारुण यातनाएँ! अहो! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसङ्ग देखनेमें आया! मुझे आनेमें यदि देर हो गयी हो तो तू मुझे क्षमा कर।'

यह सुनकर प्रह्लादजी लज्जित हो गये और बोले—'महाराज! आप यह क्या कहते हैं!' उसके बाद भगवान् नृसिंह प्रह्लादसे बोले कि 'तेरी इच्छा हो सो वरदान माँग।' इसपर प्रह्लादने कहा—'प्रभो! मैं जन्मसे ही विषयभोगोंमें आसक्त हूँ, अब मुझे इन वरोंके द्वारा आप लुभाइये नहीं। मैं उन भोगोंसे भयभीत होकर—उनसे निर्विण्ण होकर उनसे छूटनेकी इच्छासे ही आपकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! मुझमें भक्तके लक्षण हैं या नहीं, यह जाननेके लिये आपने अपने भक्तको वरदान माँगनेकी ओर प्रेरित किया है। ये विषयभोग हृदयकी गाँठको और भी मजबूत करनेवाले तथा बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं। जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु

हैं। आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है। जो स्वामीसे अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये ही, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं है। मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं। मेरे स्वामी ! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो।'

यह है निष्कामभाव ! निष्कामका स्तर सबसे ऊँचा है। फिर भी हम भगवान्से अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भगवान्के दर्शनके लिये, भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये, भगवान्के भजन-ध्यानके लिये स्तुति-प्रार्थना करें, तो वह कामना शुद्ध होनेके कारण निष्काम ही है।

उच्च निष्कामभावका स्वरूप

अपने परम कल्याणकी, भगवान्के दर्शनोंकी, भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेकी और भगवान्के भजन-ध्यानकी जो कामना है, वह शुभ और शुद्ध कामना है। इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। फिर भी अपने कर्तव्यका पालन करना और कुछ भी नहीं माँगना—यह और भी उच्चकोटिका भाव है और देनेपर मुक्तिको भी स्वीकार न करना, यह उससे भी बढ़कर बात है। श्रीभगवान् और महात्माओंके

पास तो माँगनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; क्योंकि जैसे कोई सेवक नौकरी करता है और उसकी सेवाको स्वीकार करनेवाले स्वामी यदि उच्चकोटिके होते हैं तो वे स्वयं ही उसका ध्यान रखते हैं। वे ध्यान न भी रक्खें तो भी उस सेवककी कोई हानि नहीं होती। यदि उसमें सच्चा निष्कामभाव हो तो परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है; किंतु ऐसा उच्चकोटिका भाव ईश्वरकी कृपासे ही होता है। इस समय ऐसे स्वामी बहुत ही कम हैं और ऐसे सेवक भी देखनेमें बहुत कम आते हैं; परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संसारमें ऐसे कोई हैं ही नहीं। अवश्य ही संसारमें सच्चे महात्मा बहुत ही कम हैं। करोड़ोंमें कोई एक ही होते हैं। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

हमारा यह कहना नहीं है कि संसारमें महात्मा हैं ही नहीं और हम यह भी नहीं कह सकते कि संसारमें कोई श्रद्धालु सच्चा सेवक (पात्र) भी नहीं है। संसारमें ऐसे पात्र भी मिलते हैं और महात्मा भी; किंतु मिलते हैं बहुत कम। उस कमकी श्रेणीमें ही हमलोगोंको भाग लेना चाहिये अर्थात् उस प्रकारके बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

हमलोगोंको तो यह भाव रखना चाहिये कि केवल हमारे आत्माका ही नहीं, सबका कल्याण हो । अपने आत्माके कल्याणके लिये तो सब जिज्ञासु प्रयत्न करते ही हैं । इसकी अपेक्षा यह भाव बहुत उच्चकोटिका है कि 'सभी हमारे भाई हैं, अतः सभीके साथ हमारा कल्याण होना चाहिये ।' इससे भी उच्चकोटिका भाव यह है कि सबका कल्याण होकर उसके बाद हमारा कल्याण हो । इसमें भी मुक्तिकी कामना है, किंतु कामना होनेपर भी निष्कामके तुल्य है और अपने कल्याणके विषयमें कुछ भी कामना न करके अपने कर्तव्यका पालन करता रहे तथा अपना केवल यही उद्देश्य रक्खे कि 'सबका उद्धार हो', तो यह और भी विशेष उच्चकोटिका भाव है । लक्ष्य तो अपना सबसे उच्चकोटिका ही होना चाहिये । कार्यमें परिणत न भी हो तो भी सिद्धान्त तो उच्चकोटिका ही रखना उचित है । हमको इस बातका ज्ञान भी हो जाय कि यह उच्चकोटिकी चीज है तो किसी समय वह कार्यमें भी परिणत हो सकती है । ज्ञान ही न हो तो कार्यमें कैसे आवे ।

भगवान्‌की भक्ति तो बहुत ही उत्तम वस्तु है । जो मनुष्य भगवान्‌की भक्ति नहीं करता है, उससे तो वह श्रेष्ठ है जो धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्रीकी कामनाके लिये भक्ति करता है । उस सकामी भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो स्त्री, पुत्र, धनके लिये तो नहीं करता, किंतु घोर आपत्ति आ जानेपर उस संकट-निवारणके लिये आर्तनाद करता है । उस आर्त भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो केवल अपनी मुक्तिके लिये, परमात्माके ज्ञानके लिये, उनमें श्रद्धा-

प्रेम होनेके लिये, भजन-ध्यानके साधनके लिये या उनके दर्शनके लिये उनसे प्रार्थना करता है। ऐसा जिज्ञासु उपर्युक्त सभी मनुष्योंसे श्रेष्ठ है। उससे भी वह श्रेष्ठ है, जो अपने आत्माके कल्याणके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करता; परंतु अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन ही करता रहता है अर्थात् निष्कामभावसे ईश्वरकी अनन्यभक्ति करता ही रहता है। उसको यह विश्वास है कि 'परमात्माकी प्राप्ति निश्चय अपने-आप ही होगी; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे सब जानते हैं। उनके पास प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, मुझको अपने कर्तव्यका पालन करते ही रहना चाहिये।' ऐसा निष्कामी उपर्युक्त सभी मनुष्योंसे श्रेष्ठ है। इससे भी श्रेष्ठ वह पुरुष है, जो अपना कल्याण हो, इसके लिये प्रयत्न करता रहता है; किंतु यह भाव भी नहीं रखता कि 'मैं नहीं भी माँगूँगा तो भी भगवान् मेरा कल्याण अवश्य करेंगे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, वे स्वयं सब जानते ही हैं।' पर इस भावमें भी सूक्ष्म कामना है, किंतु जो इस बातकी ओर भी ध्यान न देकर केवल अपने कर्तव्यका ही पालन करता रहता है; बल्कि यह समझता है कि 'निष्कामभावसे कर्तव्यका पालन करना—भगवान्‌की निष्कामभावसे सेवा करना—यह मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। अतः मैं सदा भगवान्‌की निष्कामभावसे ही सेवा करूँ, मेरा उत्तरोत्तर केवल भगवान्‌में ही प्रेम बढ़ता रहे—' उसका यह लक्ष्य और भाव बड़ा ही उच्चकोटिका है; क्योंकि वह समझता है कि प्रेम सबसे बढ़कर वस्तु है। परमात्माकी प्राप्तिसे भी परमात्मामें जो अनन्य और विशुद्ध प्रेम है,

यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। इसपर भी भगवान् प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, जैसे प्रह्लादको दर्शन दिये। दर्शन देकर भगवान् आग्रह करें कि मेरे संतोषके लिये जो तेरे जँचे वही माँग ले तो भी हमको प्रह्लादकी भाँति कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। यह बहुत उच्चकोटिका निष्कामभाव है। जैसे भगवान्‌की कृपा होनेपर भगवान्‌का दर्शन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त निष्कामी भक्तकी कृपासे भी दूसरोंका कल्याण हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। ऐसे पुरुषके हृदयमें यदि यह दयाका भाव हो जाय कि 'इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये; क्योंकि ये पात्र हैं' तो इस भावसे भी लोगोंका कल्याण हो सकता है।

जब भगवान् यह समझते हैं कि इसके हृदयमें कभी यह बात अपने लिये नहीं आयी और इन साधकोंके लिये यह बात आती है कि इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये तो भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। भगवान् समझते हैं कि यह इसकी माँग तो नहीं है पर इसका भाव तो है न; इसके भावकी भी यदि मैं सिद्धि कर दूँ तो वह मेरे लिये गौरवकी बात है; क्योंकि जिसने अपने लिये कभी किसी पदार्थकी कामना की ही नहीं और न अभी करता है और उसके हृदयमें यह भाव है कि इन सबका कल्याण होना चाहिये तो ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उन साधकोंका कल्याण अवश्य ही करते हैं।

परंतु उस निष्कामी भक्तके हृदयमें यह बात आती है तो

वह समझता है कि 'मैं भगवान्के तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानता, नहीं तो, यह बात भी मेरे हृदयमें क्यों आती ? क्योंकि भगवान् जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक ही कर रहे हैं, वहाँ तो कोई अंधेर है ही नहीं। क्या भगवान् मुझसे कम दयालु हैं ? मैं क्या भगवान्से अधिक दयालु हूँ ? क्या मैं ही संसारके जीवोंका कल्याण चाहता हूँ, भगवान् नहीं चाहते। मेरे लिये ऐसा भाव होना या लक्ष्य रखना कि ये पात्र हैं, इनका कल्याण होना चाहिये, अनुचित है। उनकी पात्रताको क्या भगवान् नहीं देखते हैं ? मैं ही पात्रका हित चाहता हूँ, क्या भगवान्में इसकी कमी है ? मुझको तो यह देखते रहना चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, भगवान्की लीला हो रही है, मेरे मनमें यह बात भी क्यों आये कि इनका तो कल्याण होना चाहिये और इनका नहीं; क्योंकि संसारके सभी प्राणी मुक्तिके पात्र हैं और मनुष्यमात्र तो हैं ही; फिर अपात्र कौन है ? अपात्र होते तो भगवान् उन्हें मनुष्य क्यों बनाते ? और भगवान्की दयाके तो सभी पात्र हैं; क्योंकि सभी भगवान्की दया चाहते हैं और भगवान्की दयासे सभीका उद्धार हो सकता है।' अवश्य ही भगवान्की दयाके विषयमें यह मान्यता होनी चाहिये कि भगवान्की मुझपर अपार दया है तथा उनकी दयाके प्रभावसे समस्त संसारका उद्धार हो सकता है। इस प्रकार सब लोग इस यथार्थ बातको तत्त्वसे समझ लें तो सबका कल्याण होना कोई भी बड़ी बात नहीं है। कल्याण न होनेमें कारण भगवान्की दयाके प्रभावकी कमी नहीं है, उसको समझने-माननेकी और श्रद्धा-प्रेमकी कमी है।

हमारे घरमें पारस पड़ा हुआ है; किंतु हम पारसको और उसके प्रभावको न जाननेके कारण उसके लाभसे वञ्चित हैं और दो-चार पैसोंके लिये दर-दर भटक रहे हैं तो यह पारसका दोष नहीं है। पारसको और उसके प्रभावको हम जानते नहीं हैं, उसीका यह दण्ड है। पारस तो जड है और भगवान् चेतन हैं, इसलिये भगवान् पारससे बढ़कर हैं। पारससे तो महात्मा भी बढ़कर हैं, फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या? जो भगवान्‌की दयाके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको जानता है, वह तो स्वयं ही कल्याणस्वरूप है। ऐसे पुरुषोंके अपने कल्याणकी तो बात ही क्या है, उनकी दयासे दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की दयाके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये। फिर हमलोगोंके कल्याणमें कोई संदेह नहीं है। भगवान्‌की कृपाके प्रभावसे हमलोग भी इस प्रकारके उच्चकोटिके भक्त बन सकते हैं।

कर्तव्यपालनकी आवश्यकता

इसलिये हमको तो चुपचाप अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है और साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझना चाहिये। यहाँ परमात्मा ही साध्य हैं और निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये भगवान्‌की अनन्य विशुद्ध भक्ति करना ही साधन है। इसलिये हमारी भक्ति अनन्य होनी चाहिये। उसीका नाम अनन्य प्रेम, उसीका नाम अनन्य भक्ति

और उसीका नाम अनन्य शरण है; परंतु वह होनी चाहिये विशुद्ध। जिसमें किंचिन्मात्र भी कामना न हो, उसको विशुद्ध कहते हैं। मुक्तिकी कामना भी शुद्ध कामना है और विशुद्ध भावमें तो शुद्ध कामना भी नहीं रहती। अतः हमारा भाव और प्रेम विशुद्ध होना चाहिये। उसके लिये अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है; इसलिये साधनको साध्य परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर समझना चाहिये। जब यह भाव रहता है, तब परमात्माकी प्राप्तिकी भी कामना हृदयमें नहीं रहती। ऐसे पुरुषके लिये भगवान् उत्सुक रहते हैं कि मैं इसकी इच्छाकी पूर्ति करूँ; किंतु उसमें इच्छा होती ही नहीं। ऐसे भक्तके प्रेममें भगवान् बिक जाते हैं और उसके प्रति भगवान् अपनेको ऋणी समझते हैं। जो सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान् तो उसके भी अपने-आपको ऋणी मान लेते हैं; फिर ऐसे निष्काम प्रेमी महा-पुरुषके अपने-आपको भगवान् ऋणी मानें, इसमें तो कहना ही क्या है? वास्तवमें न्याययुक्त विचार करके देखा जाय तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक निष्काम भक्त साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझता है, तब भगवान् यह समझते हैं कि इसका भाव बहुत उच्चकोटिका है, जिसके मूल्यमें मैं बिक जाता हूँ।

यह समझकर हमलोगोंको भगवान्‌की अनन्य और विशुद्ध भक्तिरूप साधन श्रद्धाप्रेमपूर्वक तत्परताके साथ निरन्तर करना चाहिये।

तीन प्रकारकी श्रद्धाका तत्त्व-रहस्य

श्रद्धालुओंकी विभिन्न श्रेणियोंका दिग्दर्शन कराते हुए श्रद्धाकी व्याख्या की जाती है। जो मनुष्य महात्माको वास्तवमें महात्मा समझ लेता है, उसकी उनमें परम श्रद्धा हो जाती है तथा परम श्रद्धा हो जानेके बाद वह उनके शरण हो जाता है। फिर उस श्रद्धालुको कल्याणके लिये अन्य कुछ भी साधन नहीं करना पड़ता। उन महात्माकी चेष्टा, इच्छा, संकेत और सम्मतिके अनुसार ही उस श्रद्धालुकी क्रिया अपने-आप ही होती रहती है। जैसे भगवान्के सर्वथा अनन्य-शरण ग्रहण करके पूर्णरूपेण उन्हींपर निर्भर रहनेवाले भगवत्परायण भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्से ही होती है, वह कुछ नहीं करता; क्योंकि उसमें कर्तापनका भाव रहता ही नहीं, वैसे ही महात्मामें श्रद्धा रखनेवालेकी क्रिया उनके अनुकूल ही हो जाती है। जिस प्रकार उच्चकोटिकी पतिव्रताकी समस्त चेष्टा अपने पतिके अनुकूल ही होती है, प्रत्युत उसकी अनुकूलतामें रुकावट डालनेकी भी उसमें सामर्थ्य नहीं रहती और जैसे कठपुतली सूत्र-धारके नचाये ही नाचती है, इसी प्रकार जो महात्मा पुरुषके सर्वथा शरण है, उसकी यह सामर्थ्य नहीं रहती कि मैं ऐसा करूँ, वैसा करूँ; बल्कि वह तो कठपुतलीकी-ज्यों उनके नचाये ही नाचता है। महात्मा पुरुषके भाव, उनकी चेष्टा, संकेत और उद्देश्यके अनुसार

अपने-आप उससे क्रिया होती रहती है। उसे तो प्रायः पूरा ज्ञान भी नहीं रहता कि मैं क्या कर रहा हूँ। इस प्रकारका श्रद्धालु उच्च श्रेणीका होता है और उसे परम श्रद्धा होनेसे तत्काल परमात्माकी प्राप्ति भी हो जाती है।

इससे कुछ निम्न श्रेणीका श्रद्धालु वह है, जिसकी महात्मामें श्रद्धा तो है पर वह अनन्य नहीं है, मुख्य है। उसमें कर्तापन-का भाव रहता है; ऐसा श्रद्धालु भी महात्माकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह महात्माकी आज्ञाके सम्मुख अपने प्राणोंकी भी परवा नहीं करता। वह अपने प्राणोंका त्याग कर सकता है, पर महात्माकी आज्ञाका त्याग नहीं कर सकता। उसकी अनन्य श्रद्धा तो नहीं है, किंतु मुख्य श्रद्धा है। उसको जब मालूम हो जाता है कि महात्माकी यह सम्मति है, तब फिर वह उससे बाहर नहीं जा सकता। उससे बाहर जानेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं रहती। विपरीत जानेकी बात तो दूर रही, वह उनकी सम्मतिमें बाधा भी नहीं डाल सकता। यदि कदाचित् भूलसे कोई कार्य महात्माकी सम्मतिके विपरीत हो जाता है तो उसे पश्चात्ताप होता है; क्योंकि उसमें कर्तापन-का अभिमान है और जहाँ कर्तापनका अभिमान है, वहाँ कुछ स्वतन्त्रता है; परंतु जहाँ परम श्रद्धा हो जाती है, वहाँ कर्तापनका अभाव हो जानेके कारण अपनी कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती। अतः उसे किसी प्रकारके चिन्ता-विषाद और पश्चात्ताप होते ही नहीं।

इससे भी निम्न श्रेणीका श्रद्धालु वह है, जिसकी महात्मामें भी श्रद्धा है और संसारमें भी विश्वास है। सब समय श्रद्धा, विश्वास

समान नहीं रहते । कभी महात्मामें नौ आना हो जाती है तो कभी संसारमें । इस प्रकार दोनोंका ही उसपर असर रहता है । वह कभी संसारको आदर देता है तो कभी महात्माको । इसलिये यह सामान्य श्रद्धा है ।

जब संसारमें आसक्त होता है, तब कहीं धनके लिये, पदार्थोंके लिये, अपने शरीरके आरामके लिये, मान-बड़ाईके लिये महात्माके वचनोंकी अवहेलना भी कर देता है । कहीं पदार्थोंकी विशेष सत्ता मानकर नीतिकी दृष्टिसे महात्माके कथनको शास्त्रसम्मत, धर्मयुक्त और न्यायसङ्गत नहीं समझता और उनके वचनोंकी अवज्ञा भी कर देता है तथा कहीं अपने मन-बुद्धिके भ्रमसे अनेक युक्तियोंसे उनकी बातोंका प्रतीकार भी कर देता है । इसी प्रकार जब बुद्धिके विवेकके द्वारा, शास्त्रकी दृष्टिसे, सुनी हुई बातोंकी दृष्टिसे, मन-बुद्धिमें महात्माके प्रति श्रद्धापूर्वक आस्था और महत्त्व हो जानेपर, महात्माके प्रति प्रेम और विश्वासका आविर्भाव होता है, तब उस समय संसारकी, धनकी, शरीरकी, मान-बड़ाईकी अवहेलना कर देता है तथा महात्माकी बात मानकर उनके वचनोंका विशेष आदर करता है; किंतु इन बातोंको समझकर भी जिस समय उसकी अधिक प्रीति संसारकी ओर हो जाती है, उस समय महात्माकी अवहेलना भी कर देता है । वह जितना महात्माका प्रभाव समझता है, उतना ही आदर करता है और जितना आदर करता है, उतनी ही उसकी श्रद्धा समझी जाती है तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसको लाभ मिलता है ।

श्रद्धा और अच्छी नीयत

शास्त्रोंमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रद्धाकी बड़ी महिमा है। वस्तुतः श्रद्धा महिमाके योग्य ही है। श्रद्धासे जो कार्य सहज ही सम्पन्न होता है, वैसा और किसी भी साधनसे नहीं हो सकता। परमात्माकी प्राप्तिमें तो श्रद्धा ही प्रधान सहायक है। अतएव परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें तो श्रद्धाके बिना काम नहीं चल सकता।

मान लीजिये कि कुछ सज्जन मुझपर श्रद्धा करते हैं और उससे उनमेंसे किसीको लाभ होता है, तो वह उनकी श्रद्धासे होता है। जिसको हम श्रद्धेय पुरुष कहें, या श्रद्धाके योग्य कहें, वैसा श्रद्धाका पात्र मैं अपनेको नहीं मानता। न मुझमें कोई ऐसी योग्यता है, न प्रभाव है, न कोई करामात ही है; परंतु यदि कोई अपनी श्रद्धासे, उस श्रद्धाके बलपर लाभ उठा ले तो उसमें मेरा प्रभाव हेतु नहीं है। अपनी श्रद्धाके द्वारा मनुष्य हर जगह लाभ उठा लेता है। एक पाषाणकी या धातुकी मूर्तिमें भगवान्‌की भावना करके उसे प्रत्यक्ष भगवान् समझकर हम लाभ उठाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य किसी भी पदार्थसे अपनी श्रद्धाके बलपर लाभ उठा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि किसीपर किन्हींकी श्रद्धा है और यदि वे उसे श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं तो उसकी बातका उनपर तुरंत असर होता है। मान लीजिये; दो व्यक्ति हैं और दोनों ही मुझपर

श्रद्धा रखते हैं । किसी बातको लेकर उनके आपसमें मनमुटाव या वैमनस्य हो गया । झगड़ा यहाँतक बढ़ा कि कोर्टमें जानेकी तैयारी हो गयी । ऐसी अवस्थामें यदि उन दोनोंके मेरे पास आनेपर या मैं स्वयं ही बुलाकर उनको समझा दूँ और श्रद्धाके कारण मुझे पक्षपात-रहित मानकर वे तुरंत मेरी बात मान लें तो बहुत दिनोंका झगड़ा मिनटोंमें ही मिट जाता है । श्रद्धा न होनेपर ऐसा नहीं हो सकता । इस दृष्टिसे श्रद्धा करनेवालोंका विरोध नहीं किया जाय तो कोई दोष नहीं । कोई हमारी बात मानकर अपना सुधार करें, अपनी भूलोंको समझकर उन्हें छोड़ दें, तो ऐसी परिस्थितिमें हमको विरोध क्यों करना चाहिये ? हाँ, यदि कोई श्रद्धासे शरीरकी सेवा-पूजा करे तो उसका विरोध अवश्य करना चाहिये । हम तो जो कुछ कहते हैं अधिकांशमें गीता, भागवत, रामायण, मनुस्मृति आदि शास्त्रोंके आधारपर कहते हैं । शास्त्र त्रिकालज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी ऋषियोंकी वाणी है और श्रीमद्भगवद्गीता तो साक्षात् भगवान्‌के दिव्य वचन ही हैं । इस प्रकार ऋषि-मुनि-महात्मा और भगवान्‌के वचनोंपर निर्भर करके उन्हींके आधारपर जो बात कही जाती है, वह तो वस्तुतः उन्हींकी बात है । कहनेवाला तो केवल अनुवादमात्र करता है । यदि लोग श्रीभगवान्‌के और ऋषि-मुनियोंके वचनोंको मानकर अपना कल्याण-साधन करें तो बहुत उत्तम बात है । वे वचन कल्याणकारी और उच्चकोटिके हैं ही, कोई भी उनके अनुसार अपना जीवन बनाये तो उसका कल्याण हो सकता है—मैं बनाऊँगा तो मेरा, दूसरे कोई बनायेंगे तो उनका । ऋषि-महात्मा और भगवान्‌के इन वचनोंका सभीको आदर करना चाहिये और उन्हें काममें लानेकी

श्रद्धापूर्वक विशेष चेष्टा करनी चाहिये ।

वर्षोंतक इन वचनोंके सुननेपर भी यदि लाभ नहीं देखा जाता, या बहुत कम देखा जाता है, तो इसमें कारण यही है कि उन वचनोंके अनुसार क्रिया नहीं की गयी । ऋषि-मुनियोंके और भगवान्‌के वचनोंके सुनने-सुनानेमें जो समय लगा, वह समय तो अवश्य ही सार्थक हुआ, परंतु उन वचनोंका सदुपयोग तभी होता जब हमलोग उन वचनोंके अनुसार अपना जीवन बना लेते । एक दिनके भी सुने-सुनाये हुए महात्माओंके और भगवान्‌के वचन काममें लाये जायँ तो कार्य सफल हो सकता है । फिर श्रद्धा होनेपर कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? महात्मा पुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा करनेसे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है ।

तीसरी बात यह है कि यदि किसीको प्रत्यक्षमें महात्मा नहीं मिले तो शास्त्रोंके वचनोंपर विश्वास करके उनके अनुसार चलनेसे भी कल्याण हो सकता है ।

चौथी बात यह है कि भगवान्‌के भक्तों या महात्मा पुरुषोंमें अथवा उनमें जिनकी श्रद्धा है, ऐसे साधकोंमें श्रद्धा करने और उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत अधिक लाभ हो सकता है ।

पाँचवीं बात यह है कि अपने शुद्ध अन्तःकरणमें—जिसमें स्वार्थका त्याग और पक्षपातका अभाव है—जिसमें समभाव है, ऐसे पवित्र अन्तःकरणवाले साधकके हृदयमें जो भगवत्कृपासे स्फुरणा होती है, उसको आदर्श मानकर यदि मनुष्य दृढ़ निश्चयपूर्वक उसके अनुसार भी साधन करता है अथवा जो अपने मन-बुद्धिके

निर्णयके अनुसार जिसको शुद्ध नीयतसे उत्तम समझता है, उसीके अनुसार अपना जीवन बनाता है, उसका भी कार्य चल सकता है। शास्त्रोंपर, महात्मापर और ईश्वरपर भी विश्वास न हो तो उस परिस्थितिमें मनुष्यको अपनी बुद्धिपर तो विश्वास करना ही चाहिये।

संसारमें परस्पर-विरोधी जो दो-दो पदार्थ हैं, उनको सामने रखकर निर्णय करना चाहिये और उनमें जिसको कल्याणकारक—शुभ समझे, उसका आचरण करना चाहिये और जिसको अनिष्टकारक—अशुभ समझे, उसका त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार करनेपर भी कल्याण हो सकता है। जैसे, सत्य-भाषण और मिथ्या-भाषण—इन दोनोंको अपने सामने रखकर बुद्धिसे विचार करे कि इन दोनोंमें सत्य श्रेष्ठ है या मिथ्या। ठीक-ठीक विचार करनेपर मनुष्य यही कहेगा कि 'श्रेष्ठ तो सत्य ही है। लोभके वशमें होकर या अन्य किसी कारणसे मनुष्य असत्य बोलता है, परंतु वास्तवमें तो सत्य ही कल्याणकारक है।' इस निर्णयके अनुसार सत्यको शुभकी श्रेणीमें रख ले और मिथ्याको अशुभकी। इसी प्रकार एक ओर किसीको दुःख पहुँचाना और मारना-काटना हो और दूसरी ओर सबको आराम पहुँचाना, सेवा करना और उपकार करना हो। इन दोनोंमें अच्छे-बुरेका बुद्धिके अनुसार निर्णय करे, तो संसारमें कोई किसी भी सिद्धान्तका माननेवाला क्यों न हो, चाहे वह स्वयं पालन न कर सकता हो, पर वह निर्णय तो यही देगा कि 'आराम पहुँचाना, सेवा, उपकार और हित करना ही श्रेष्ठ है। चोट पहुँचाना, मारना, काटना और अहित करना सर्वथा अन्याय है।' जब यह निर्णय हो गया, तब सेवा, उपकार आदिको शुभकी

श्रेणीमें रख ले और हिंसा आदिको अशुभकी श्रेणीमें। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन और व्यभिचार, विषय-भोगोंमें आसक्ति और विषय-वैराग्य तथा विषय-भोग और विषयोंका त्याग— इनपर विचार करे। विचार करनेपर यही सिद्ध होगा कि ब्रह्मचर्यका पालन, विषय-वैराग्य और विषयत्याग ही उत्तम है; अतः ब्रह्मचर्य और वैराग्य-त्यागको शुभकी श्रेणीमें एवं व्यभिचार तथा विषयासक्ति और विषयभोगको अशुभकी श्रेणीमें रक्खे। कोई भी आदमी ब्रह्मचर्य और त्यागके श्रेष्ठत्व और महत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सकता। भोगी आदमी भी यही कहेगा कि 'भाई! मैं तो भोगासक्त हूँ, परंतु भोग और त्यागका मुकाबला करनेपर तो त्याग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। त्यागसे शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२ । १२)। विरक्त त्यागी पुरुषोंकी लोक-परलोकमें सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है, पर भोगासक्त और विषयभोगीकी प्रतिष्ठा कहीं भी नहीं होती।

एक ऐसा आदमी है, जो दूसरेके धनपर उसे अन्यायपूर्वक प्राप्त करनेके लिये निरन्तर दृष्टि गड़ाये रहता है और परापवाद करने तथा पर-धनको हड़पनेमें ही अपना गौरव मानता है; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेके धनको धूल या विषके समान समझता है, जिसकी दूसरेके पद, धन या किसी प्रकारके पदार्थपर तो ग्लानि है ही; परंतु अपने निजी स्वत्वपर भी वह मोह-ममता न करके उसपर अनासक्त ही रहता है। भाव यह कि एक ऐसा मनुष्य है, जो अपनी चीजको तो अपनी मानता है और कहीं दूसरेकी चीज हाथ लग जाय तो उसे अपनी बनानेमें तनिक भी हिचकता नहीं।

चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे—कैसे भी मिले; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेकी चीजके चुरानेकी कल्पना ही नहीं करता, पर यदि दूसरा कोई उसकी चीज चुराकर ले जाता है तो समझता है कि 'यह चीज इसके काम आ जाय तो ठीक है।'

उपर्युक्त दोनों प्रकारके लोगोंके कार्योंपर तथा नीयतपर विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि एक ओर विषय-विरक्ति है, त्याग है, उदारता है। दूसरी ओर विषयानुराग है, चोरी है, डकैती है और परस्वापहरण है—यों विचार करके उदारता आदिको शुभमें रक्खे और परस्वापहरण आदिको अशुभमें। इसी प्रकार संसारके सभी पदार्थोंके दो-दो विभाग करनेसे शुभ और अशुभकी एक सुन्दर सूची बन जायगी। उसमें शुभको दैवीसम्पदा कह सकते हैं और अशुभको आसुरी। इसी प्रकार एक ओर त्याग, क्षमा, दया आदि सद्गुण हैं और दूसरी ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अवगुण हैं। जिस ओर सद्गुण हैं, वहाँ दैवी-सम्पत्ति है और अवगुण हैं उस ओर आसुरी-सम्पत्ति। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये है और आसुरी बन्धनके लिये—

'दैवीसम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

(गीता १६।५)

दैवी-सम्पत्तिवाला जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है और आसुरी-सम्पत्तिवाला बन्धनमें जकड़ा हुआ बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता रहता है। इस प्रकार अच्छी नीयतसे मनुष्य अपनी बुद्धिपर निर्भर करके आत्माके कल्याणकी इच्छासे विवेचन करके शुभका ग्रहण कर लेता है तो उसका उद्धार हो

जाता है, चाहे वह नास्तिक ही क्यों न हो।

अच्छी नीयतका अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकमें मेरा और सभी भाइयोंका कल्याण हो। इस नीयतसे जो आचरण किया जाता है, उसका नाम 'अच्छी नीयत' है। इससे भी श्रेष्ठ वह नीयत मानी जाती है कि जिसमें अपनेको बाद देकर यह चाहा जाय कि 'इस लोक और परलोकमें सबका कल्याण हो जाय।' इससे भी श्रेष्ठ एक नीयत और होती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये, एक जगह बहुत-से सज्जन बैठे हैं। वहाँ आकाशवाणी होती है कि 'आपलोगोंमेंसे किसी एक आदमीको चुनकर बता दें तो उसका उद्धार किया जा सकता है अर्थात् आपलोगोंकी सबकी तपस्या, भक्ति, साधनाको शामिल करके उसके फल-स्वरूप आपमेंसे केवल एक व्यक्तिका कल्याण हो सकता है।' इसके उत्तरमें जो यह कहता है कि 'प्रभो! एक मुझको छोड़कर आपकी इच्छा हो, उसीका कल्याण कर दें' तो वह कल्याणका अधिकारी हो गया और जो ऐसा कहता है कि 'प्रभो! मेरा कल्याण कर दो।' तो वह स्वार्थी मनुष्य है। सभी लोग यह कहें कि 'मेरा कल्याण कर दो।' 'मेरा कल्याण कर दो।'—तो एकका भी कल्याण नहीं हो सकता। और सभी एक स्वरमें यह कहें कि 'मुझे छोड़कर चाहे जिसका कल्याण कर दिया जाय।' तो सभी कल्याणके पात्र हो जाते हैं। ऐसी दशामें भगवान् सबको दर्शन देकर उनका उद्धार कर सकते हैं; क्योंकि स्वार्थ त्यागका बड़ा माहात्म्य है। इस प्रकार अपने साधन, तप, भक्ति आदिको देकर दूसरेका कल्याण करना बड़ी श्रेष्ठ नीयत है। इससे भी श्रेष्ठ नीयत एक और है—वहाँ मनुष्य वह

सोचता है कि 'लोगोंका कल्याण न होनेमें कारण उनके पाप हैं। इसलिये उन सबके पाप मुझको भुगता दिये जायँ और उन सबका कल्याण कर दिया जाय।' ऐसी श्रेष्ठ नीयतवाले पुरुषका कल्याण भगवान्के यहाँ सबसे पहले होता है, परंतु 'इस प्रकारकी नीयत रखनेसे सबसे पहले मेरा उद्धार हो जायगा' इस दृष्टिसे ऐसा नहीं करना चाहिये; क्योंकि इसके भीतर भी आत्मोद्धारका स्वार्थ ही है। अतः अपने तो हृदयमें यही बात विशुद्ध भावसे होनी चाहिये कि 'सबका कल्याण हो, सबका हित हो और यदि पापके कारण किसीका हित न होता हो और उसके पाप हमारे भोगनेसे उसका कल्याण हो जाता हो तो उसके पाप हम भोग लें।' यह सर्वोत्तम भाव है।

यद्यपि मुझमें यह भाव नहीं है कि मैं सबका पाप भोग लूँ और सबका उद्धार हो जाय। यह तो मैं आपसे कह रहा हूँ और वास्तवमें यह है बहुत ऊँची बात। अच्छे लोगोंके मनोंमें भी यह बात आ जाती है कि यह बड़ी कठिन है। जब मनुष्यके लिये रुपयोंका त्याग करना भी बड़ा कठिन होता है, तब यह तो मुक्तिका त्याग है। मुक्तिका ही नहीं, आरामका ही नहीं, दूसरोंके पापोंके फलस्वरूप कष्ट-भोगका स्वीकार करना है। कितना महान् त्याग है।

आप निष्कामभावसे और अच्छी नीयतसे मेरा हित कर रहे हैं और इसी बीचमें आपसे कोई गलती हो गयी तथा उसके लिये आपको संकोच भी हो रहा है; किंतु मैं यह कहता हूँ कि 'आपको संकोच नहीं करना चाहिये। आप तो मेरे ही हितके लिये कर रहे थे। भूल हो गयी, इसमें आपका कोई दोष नहीं है। यह तो मेरे

भाग्यकी बात है।' इस वाक्यमें 'यह तो मेरे भाग्यकी बात है'— इन शब्दोंसे आपके मनमें यह बात आ सकती है कि 'भूल तो सर्वथा मेरी थी और इनको अपने भाग्यका दोष बताना पड़ा।' यह अच्छी नीयतका एक उदाहरण है। जिनकी अच्छी नीयत है, वे ही वस्तुतः सत्पुरुष हैं और उन्हींकी लोक-परलोकमें तथा भगवान्‌के यहाँ भी प्रतिष्ठा है। एक आदमीके पास पैसा नहीं है, पर वह लाखोंका व्यापार करता है और उसकी सच्ची नीयतपर विश्वास करके निर्भयताके साथ लोग उससे लाखोंका लेन-देन करते हैं। दूसरे एक व्यक्तिके पास लाखों रुपये हैं, पर वह दूसरेका धन हड़पनेकी नीयत रखता है, इसलिये लोग उससे व्यवहार नहीं रखना चाहते। लोग जानते हैं कि यह बेईमान है। रुपये हाथमें चले जानेके बाद यह लौटायेगा नहीं। इस प्रकार विचार करके उसे लोग एक पैसा भी देना नहीं चाहते; किंतु जिसकी अच्छी नीयत है, जिसपर विश्वास है, उससे आग्रह करके, बिना व्याजके भी, अपनी रकम उसके यहाँ सुरक्षित मानकर जमा कराना चाहते हैं।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि 'जो चोरी नहीं करता, दूसरेके धनको, पदको, जमीन-मकानको, ऐश्वर्यको, किसी प्रकारके स्वत्वको हड़पना नहीं चाहता—चोरीसे, जोरीसे या ठगीसे। इस प्रकार चोरीके भावसे सर्वथा रहित पुरुषके लिये सब जगह रत्न उपस्थित हो जाते हैं।' इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सब लोग उसका विश्वास करते हैं, उसकी दृष्टिमें रत्न-ही-रत्न भरे रहते हैं। दूसरेके धनको वह किसी प्रकार भी लेना नहीं चाहता। उसमें यह महान् गुण है। इसलिये प्रत्येक भाईको अपनी नीयत शुद्ध और

शुभ बनानी चाहिये । दूसरेके धनको मलके समान समझकर उसका त्याग करना चाहिये । मल स्वयं तो गंदा है ही; परंतु यदि किसीके कपड़ेमें या शरीरपर लग जाता है तो उसे भी गंदा कर देता है । पहले अपने शरीरपर या कपड़ेपर मल लगावें और फिर उसे गङ्गाजल या शुद्ध जलसे धोवें, यह भी अज्ञान ही है । कितना भी धोया जाय, उसकी गन्ध तो रह ही जाती है । अतएव यह समझे कि इस बेहकके धनको लेकर हम किसी अच्छे काममें लगा देंगे तो यह भी भूलकी बात है । दूसरेके धनको या उसके हककी किसी चीजको मलकी भाँति छूना ही नहीं चाहिये । यदि छू जाय तो तुरंत हाथ धोकर शुद्ध करना चाहिये । अर्थात् दूसरेका धन बुरी नीयतसे तो कभी ग्रहण करे ही नहीं; परंतु जैसे गङ्गास्नान करने गये और वहाँ कोई गहना पड़ा मिल गया, उसे उसके मालिकको ढूँढ़कर दे देनेके लिये उठा लाये । मालिक मिला नहीं, ऐसी अवस्थामें उसे जब किसी पुण्यकर्ममें लगाया जाय तो अपने पाससे कुछ और मिलाकर ही लगाना चाहिये । यही छू लेनेपर हाथ धोना है । दूसरेका धन है न, उसे पुण्य करनेका भी हमें क्या अधिकार है ?

प्राचीन युगमें तो इस प्रकारके पड़े हुए धनको उठाकर लानेकी भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि सभी लोग उसे विष और मलके समान समझते थे । उसपर किसीका मन चलता ही न था । पर आज कलियुगका जमाना है, अपात्रके हाथों चीज न चली जाय और उसकी रक्षा हो, इसलिये मालिकका पता लगाकर उसको सौंप देनेकी दृष्टिसे उसे उठा लाना न्याय-संगत प्रतीत होता है । अस्तु,

श्रेष्ठ नीयत अर्थात् उत्तम भावकी लोक-परलोक और भगवान्‌के यहाँ इज्जत-प्रतिष्ठा है। किसी मत-मतान्तरका कोई भी पुरुष क्यों न हो, अच्छी नीयतवालेकी सभी इज्जत करते हैं। इस बातको समझकर परधन—परस्त्र आदिको पाप तथा मल-मूत्रके समान त्याज्य मानना चाहिये। उत्तम भाव तो यह है कि यदि ये चीजें किसी दाताके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दानमें प्राप्त होती हों तब भी वे त्याज्य ही हैं; क्योंकि ये छूने योग्य नहीं हैं और यदि कभी इन्हें छूना पड़े तो केवल उसी अवस्थामें जब कि देनेवालेका हित होता हो। अपने स्वार्थके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये तो कभी इनको स्वीकार करे ही नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि 'दाताको हमारे स्वीकार न करनेसे दुःख हो तथा स्वीकार करनेपर विशेष संतोष हो और इस प्रकार समझकर कोई उस वस्तुको स्वीकार कर ले कि 'हमारे निमित्तसे दूसरेको दुःख क्यों हो, हमसे सेवा तो नहीं बनती, पर हम दूसरेके दुःखमें निमित्त क्यों बनें' तो इसमें जो देता है, उस दाताका तो कल्याण होता है; परंतु ग्रहीतापर तो ऋण ही चढ़ता है। उसका भार तो बढ़ता ही है न ?' तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है, जहाँ त्याग है, वहाँ दोनोंका ही कल्याण होता है। कोई कहे कि फिर वह कल्याण आता कहाँसे है ? तो इसका उत्तर यह है कि 'वह आता है भगवान्‌के यहाँसे।' भगवान्‌के यहाँ किसी वस्तुकी कमी नहीं है, वे तो कल्याणके भण्डार हैं और इस प्रकारकी त्यागपूर्ण बातोंको देखकर मुग्ध हो जाते हैं।

उदाहरणके लिये मान लीजिये, कोई सज्जन किसी गृहस्थके घर गये। वह गृहस्थ बड़े प्रेमसे अपना कर्तव्य समझकर

निष्कामभावसे उनका आतिथ्य करना चाहता है । अच्छा भोजन करवाना, स्वच्छ जल पिलाना और कुछ सेवा करना चाहता है, किंतु वे अतिथि सज्जन इस प्रकार अपने लिये कुछ भी करवाना भार—ऋण समझते हैं, इसीलिये उससे पीछे हटते हैं और हर प्रकारसे अस्वीकार करते हैं। सत्य ही कहते हैं कि 'हमने कुछ ही देर पहले भोजन किया था। जल तो पीकर ही आये हैं।' वह कहता है 'फल ही ले लें' कहते हैं—'नहीं, बिलकुल इच्छा नहीं है।' तब वह कहता है कि 'कुछ तो मेरे संतोषके लिये आपको लेना ही चाहिये।' इसपर यदि उक्त सज्जनने लौंग, इलायची ले लीं और अपनी जेबमें डाल लीं और इतनेमें उसे संतोष हो गया तब तो ठीक ही है। पर यदि वह अपने भाग्यको कोसने लगा कि 'मैं बड़ा अभागा हूँ कि हमारे घरपर अतिथि आये, पर वे हमारा आतिथ्य किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते। मैं सोनेके लिये चारपाई लाकर रखता हूँ तो कहते हैं—'हम चारपाईपर सोते नहीं।' बिछौना लगाता हूँ तो कहते हैं कि 'बिछौना तो हमारे साथमें है।' फिर मैं क्या सेवा करूँ? जलके लिये पूँछता हूँ तो कहते हैं कि 'मैं अपने आप कुएँसे निकाल लूँगा; क्योंकि मेरा ऐसा ही अभ्यास है।' फिर वह करुणाभावसे कहता है कि—'मैं किसी भी लायक नहीं, किसी भी सेवाके योग्य नहीं।' और वे सज्जन देखते हैं कि उसके करुणाभावसे आँसू आ रहे हैं, वह अपनेको अभागा समझकर निराशा प्रकट कर रहा है और दुखी है, तो ऐसे अवसरपर उक्त अतिथि सज्जनका यह कहना कर्तव्य हो जाता है कि—'बोलो, तुम क्या चाहते हो?' इसपर वह गृहस्थी सेवक कहता है—'मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ तो सेवा स्वीकार करें,

दूध है, फल है—यही ले लें तो भी ठीक है।' इसपर वे अतिथि सज्जन कहते हैं कि 'अच्छा, तो ठीक है, तुम्हारे पास इस समय जो फल, दूध या जो शुद्ध पवित्र चीज हो, वह दे दो।' यों कहकर वे अतिथि सज्जन अपने आवश्यकतानुसार उसके दिये हुए दूधको पी लें, फल खा लें, जल भी पी लें, तो वह गृहस्थी प्रसन्न हो जाता है और वह समझता है कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया। इस कर्तव्यके पालनसे अपनेको वह कृतकृत्य मान लेता है।

उक्त अतिथि सज्जनने उसके हितके लिये, उसके कल्याणके लिये, उसके संतोषके लिये, उसके दुःखकी निवृत्तिके लिये ये चीजें स्वीकार कीं। उन्होंने न तो अपने आराम, भोग और स्वास्थ्यके लिये वस्तुएँ लीं और न 'पैसे बच जायँगे, परिश्रम बच जायगा, दूध-फलके खानेमें आराम मिलेगा'—यह कल्पना की। केवल मात्र उसको सुख-शान्ति मिलेगी, इसीलिये यह सब स्वीकार किया। इस प्रकार यदि अतिथिने निष्कामभावसे वस्तुएँ स्वीकार की और गृहस्थी दाताने निष्कामभावसे सेवा की तो दोनोंका ही कल्याण हो सकता है। महत्ता तो उत्तम भावकी है और जिसमें अपना तनिक भी स्वार्थ नहीं है वही उत्तम भाव है—बढ़िया नीयत है। दूसरेको किसी प्रकारसे संतोष कराना ही अपना परम धर्म है। अतः वे सज्जन अपने परम धर्मको निष्कामभावसे पालन कर रहे हैं और वह भी उनको अतिथि समझकर अपने परम धर्मका निष्काम-भावसे पालन कर रहा है। भगवान् न्यायकर्ता और सबके सुहृद् हैं। वे समस्त रहस्यको जाननेवाले हैं तो फिर इन दोनोंके लिये भगवान्के यहाँ स्थान क्यों नहीं होगा? स्थान ही नहीं, भगवान् तो मुग्ध हो सकते हैं—दोनोंकी दान तथा ग्रहणकी पवित्र क्रिया देखकर।

राज्य मुक्ति देनेवाली वस्तु नहीं है, मुक्तिको देनेवाली वस्तु तो त्याग है। अयोध्याका विशाल राज्य है। उसे भरतजी भी ठुकरा रहे हैं और भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक प्रकारसे यही बर्ताव है कि भरत राज्य स्वीकार करके चौदह वर्षतक राज्य करें और भरतकी हर प्रकारसे यही चेष्टा है कि भगवान् श्रीराम ही राजा बनकर राज्य करें। आखिर, राज्य स्वीकार करना पड़ता है भरतको। पर वह जिस भावसे, जिस पवित्र परिस्थितिमें स्वीकार करना पड़ता है वह भरतके लिये कलङ्क नहीं आभूषण है, कल्याणमय है। भरतजी यदि कैकेयीकी आज्ञासे राज्य करते तो उनके लिये वह कलङ्कका टीका था—दुर्गतिरूप था। लोग भी निन्दा करते कि 'माने तो बुरा काम किया था; किंतु भरतने भी सम्मति करके उसे स्वीकार कर लिया।' भरतजी भगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं तो ऐसा काम कर रहा हूँ जो बहुत ही निम्न-श्रेणीका है। मैं पिताजीके और आपके वचनोंका भी उल्लङ्घन करके यहाँ आपको लेने चला आया। मैंने सबकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया और इसपर भी आप मेरी बड़ाई करते हैं कि 'भरत तेरे समान तू ही है।' तो यह तो आपका स्वभाव है।' भरतजीका तो ऐसा ही भाव होना चाहिये तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी भरतका यह बर्ताव बहुत ही उच्च कोटिका है। भरतजी यदि माता कैकेयीको यह कहते—'माता! तैंने मेरे लिये यह बड़ा अच्छा किया और मन्थराने भी बड़ी सहायता की।' और अपना हक समझकर राज्य स्वीकार कर लेते तो वह शास्त्रानुसार भरतके लिये दुर्गतिका कारण बनता और उनकी माता कैकेयी तथा दासी मन्थराकी भी दुर्गति होती; किंतु भरतजीने तो ऐसा पवित्र कार्य किया कि अपनी माताको भी दुर्गतिसे

बचा लिया। माता-पिताकी पापमयी आज्ञाका पालन करनेवाला लड़का भी नरकमें जाता है और उसके माता-पिता भी नरकमें जाते हैं। कोई लड़का माता-पिताकी आज्ञासे चोरी करके लाता है तो केवल उस लड़केके ही हथकड़ी नहीं पड़ती, उसके माता-पिता भी पकड़े तथा बाँधे जाते हैं। भरतजीकी नीयत कितनी ऊँची थी। उनका यही उद्देश्य था कि किसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र वापस अयोध्या लौट चलें और राज्य करें। भरतकी यह नीयत बहुत ही उत्तम मानी गयी; पर भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह नीयत नहीं थी कि हम जाकर राज्य करें। वे तो उसको पाप समझते हैं। भरत यदि चाहते हैं कि भगवान् अयोध्या लौटकर राज्य करें तो भरतके लिये तो यह सर्वथा शोभनीय भूषण है, उनके लिये तो यह परम कल्याण-स्वरूप है; पर यदि भगवान् श्रीराम इसे स्वीकार करें तो श्रीरामके लिये कलङ्क है। सबसे उत्तम नीयत वही है—जिसमें न्याय हो, उदारता हो, स्वार्थका सर्वथा त्याग हो, निष्कामभाव हो। न्यायसे ऊँचा दर्जा उदारताका है, उदारतासे ऊँचा दर्जा स्वार्थ-त्यागका है और स्वार्थत्यागसे भी ऊँचा दर्जा निष्कामभावका है। स्वार्थत्याग तो है; परंतु उसमें निष्कामभाव नहीं है, तो वह अपेक्षाकृत निम्नश्रेणीकी ही चीज है। जैसे समतासे त्याग श्रेष्ठ है, ऐसे ही स्वार्थत्यागमें भी जो निष्कामभाव है, जो त्यागका भी त्याग है वही सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ सर्वोत्तम नीयत है, वहाँ सब कुछ है। सर्वोत्तम नीयत हो तो ये सारे बर्ताव अपने-आप होने लगते हैं, उसको कुछ भी सीखना-सिखाना नहीं पड़ता।

महापुरुषोंके गुण-प्रभाव

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
(स्कन्दपु० माहे० कु० ५५ । १४०)

'जिसका चित्त इस ज्ञान और अपार आनन्द सागररूप परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है, उस महापुरुषसे उसका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और (उसके चरण टिकनेसे) पृथ्वी पुण्यवती—पवित्र हो जाती है।'

जिस प्रकार भगवान्के गुण-प्रभाव अपरिमित हैं, उसी प्रकार महापुरुषके गुण और प्रभाव भी अपरिमित हैं; वाणीके द्वारा कोई भी उनका वर्णन नहीं कर सकता; बल्कि भगवान् तो अपने भक्तोंको अपनी अपेक्षा ऊँचा मानते हैं। भगवान्ने स्वयं अपनेको अम्बरीषके प्रसङ्गमें 'भक्तोंके पराधीन' बतलाया है—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।'

'दुर्वासाजी ! मैं अस्वतन्त्रकी भाँति सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥

मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि रामके दास रामसे भी बढ़कर हैं। वे अपार महिमाशाली हैं। कोई भी उनकी महिमाका यथार्थ गान नहीं कर सकता। शास्त्रोंने महात्माओंके सङ्गकी और महात्माओंकी जो महिमा गायी है, वह भी वस्तुतः परिमित ही है, अतः उनकी यथार्थ महिमाका वर्णन नहीं हो सकता।

ऐसे महापुरुषके सङ्गसे ही मोहका नाश होकर भगवच्चरणारविन्द-

में निश्चल प्रेम होता है । श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

संसारके भोग-पदार्थोंमें सुख और नित्यताका बोध बड़ा भारी मोह है, इस मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ अनुराग नहीं होता । मोहका नाश होनेके लिये भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको बतलानेवाली हरिकथा नित्य अवश्य होनी चाहिये और विशुद्ध हरिकथा सत्सङ्गके बिना प्राप्त नहीं होती । इसीसे महत्सङ्गकी इतनी महिमा है । बल्कि सत्सङ्गके साथ मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती ।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

अर्थात् हे प्यारे ! स्वर्ग और मोक्षके सुखको एक पलड़ेपर रक्खा जाय और दूसरेपर क्षणमात्रके सत्सङ्ग-सुखको रक्खा जाय, तो ये सब (स्वर्ग-मोक्षादिके सुख) मिलकर भी उसके समान नहीं हो सकते । इसी आशयका श्रीमद्भागवतमें श्लोक है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(१ । १८ । १३)

'भगवत्-सङ्गीके लवमात्रके सङ्गके साथ भी हम स्वर्ग तो क्या मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है ।'

'सत्' परमात्माको कहते हैं, अतएव सर्वोत्तम सत्सङ्ग तो परमात्माका सङ्ग ही है, जो उन महापुरुषोंको प्राप्त रहता है। द्वितीय श्रेणीका सत्सङ्ग उन भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका सङ्ग है। ऐसे सङ्गकी महिमा बतलाते हुए संत कहते हैं—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साध की कटै कोटि अपराध॥

चौबीस मिनटकी एक घड़ी होती है। उससे आधी बारह मिनट और उस आधीकी आधी छः मिनट होती है, यदि छः मिनट भी संतोंका सङ्ग हो जाय तो करोड़ों पाप कट जाते हैं।

सत्सङ्गमें जो बात सुनी जाती है, उसे काममें लानेपर निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें तेरहवें अध्यायके २५ वें श्लोकमें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

तत्त्वदर्शी महात्माओंसे उपदेश प्राप्त करनेकी आज्ञा देते हुए भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
(गीता ४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ। उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे। जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

चित्त-निरोधका साधन बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि 'वीतराग—विषयासक्तिरहित महात्मा पुरुषोंका चिन्तन करनेसे चित्त-निरोध हो जाता है।'

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।'
(योगदर्शन १। ३७)

इससे यह सिद्ध है, महापुरुषोंके चिन्तनमात्रसे ही चित्त शुद्ध होकर परमात्मामें एकाग्र हो सकता है, तब जिनको महापुरुषोंका सङ्ग करने और उनके साथ वार्तालाप करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, उनके लिये तो कहना ही क्या है? इस प्रकारके उच्चकोटिके महापुरुष और वीतराग-शिरोमणि महात्माओंमें श्रीशुकदेवजी महाराजका नाम मुख्यरूपसे लिया जा सकता है। ऐसे पुरुषोंके ध्यानसे चित्त शुद्ध और स्थिर होनेमें तो कोई शङ्का ही नहीं करनी चाहिये।

तत्त्वज्ञानी जडभरतने जिज्ञासु राजा रहूगणसे 'महात्मा पुरुषोंके

चरण-रज-कणमें स्नान किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता' यह बतलाते हुए कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

(श्रीमद्भा० ५ । १२ । १२)

'रहूगण ! महापुरुषोंकी चरण-रजमें अपनेको स्नान कराये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, अतिथि-सेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित कर्म, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ।'

इन महापुरुषोंमें प्रायः दो तरहके होते हैं—१. दिव्य भगवद्धाममें रहनेवाले भगवान्‌के परिकर या कारक (अधिकारी पुरुष), जो भगवान्‌की लीलामें अपना-अपना कार्य करनेके लिये अथवा संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌के द्वारा प्रेरित होकर इस मर्त्यधाममें पधारते हैं। अधिकारी या कारक पुरुष स्वभावसे ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, उनके शरीर अलौकिक, अनामय, दिव्य और विशुद्ध होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके श्रद्धापूर्वक दर्शन, भाषण और स्पर्श ही नहीं, स्मरणसे भी मनुष्य पवित्र हो सकते हैं। महात्मा वेदव्यास इसी प्रकारके कारक पुरुष हैं, जो भगवत्प्रेरणासे संसारके कल्याणार्थ प्रकट हुए थे। इसी प्रकार श्रीगोपियोंमें भी बहुत-सी भगवान्‌की परिकर-श्रेणीकी मानी जाती हैं, जो भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होनेके लिये आयी थीं। कहा जाता है कि गोपियोंमें कुछ वेदकी श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्यासिद्ध ऋषि थे और कुछ दण्डकारण्यके मुनि थे। ये सभी उक्तियाँ सत्य हो सकती हैं। जो कुछ भी हो, गोपियाँ थीं भगवान्‌में

विशुद्ध प्रेम करनेवाली महान् भक्तिमती । इसीसे भक्तराज श्रीउद्धवजीने कहा है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६१)

'क्या ही अच्छा हो कि मैं इस वृन्दावनमें कोई झाड़-लता या जड़ी-बूटी बन जाऊँ, जिससे इन गोपियोंकी चरणधूलि निरन्तर मुझपर पड़ती रहे, मैं इनकी चरणरजमें स्नान करके धन्य हो जाऊँ। इन्होंने, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है उन स्वजनोंको तथा आर्यपथको परित्यागकर उन भगवान्‌की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है, जिनको श्रुतियाँ सदा ढूँढ़ती रहती हैं, परंतु पातीं नहीं ।'

२. दूसरे महापुरुष वे हैं, जिनका इस लोकमें जन्म तो पुण्य-पापरूप प्रारब्ध कर्मसे हुआ है, पर जो साधनमें लगकर उन परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं । ऐसे पुरुषोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा, आज्ञापालन और नमस्कार करके मनुष्य मुक्ति पा सकता है । श्रद्धा जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक लाभ होता है । श्रद्धा अन्तःकरणकी शुद्धिके अनुसार होती है । अन्तःकरणकी शुद्धिके उपाय हैं—निष्कामभावसे किये हुए तीर्थ, व्रत, उपवास, दान, तप और अन्यान्य उत्तम अनुष्ठान । निष्काम सत्सङ्ग-स्वाध्याय और भजन-ध्यानसे तो अन्तःकरणकी शुद्धि बहुत ही शीघ्र होती है । अन्तःशुद्धिसे तदनुसार श्रद्धा हो जाती है, श्रद्धासे प्रेम होता है और प्रेमसे भगवान्‌की प्राप्ति ।

अतएव शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंमें विशेषरूपसे श्रद्धा करनी चाहिये। आत्माकी सत्तामें भी इस प्रकार श्रद्धा करनी चाहिये कि शरीरपात होनेके बाद मैं (आत्मा) रहूँगा। गीता कहती है—

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' (२ । २०)

शरीरके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता। मरनेके बाद परलोककी प्राप्ति अवश्य होगी। इस विश्वाससे मनुष्य आत्मकल्याणके लिये विशेष चेष्टा करता है। 'परलोक है और वहाँ पापका फल अवश्य मिलेगा।' इस प्रकार विश्वास करनेवाला मनुष्य पाप नहीं कर सकता। ईश्वर, महापुरुष और शास्त्रमें विश्वास करनेवाला भी पाप नहीं कर सकता। शास्त्र महापुरुषोंके ही वचन हैं। परलोकका प्रमाण महापुरुषोंके भी महापुरुष भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंसे सिद्ध है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २ । १२-१३)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

इसलिये ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंपर हमें श्रद्धा-

विश्वास अवश्य करना चाहिये । अस्तु !

श्रद्धापूर्वक किये हुए महापुरुषोंके स्मरण, दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही जब मनुष्यका कल्याण हो जाता है, तब उनके सेवा और आज्ञापालनसे कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? अतः महापुरुषोंके आज्ञानुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

महापुरुष इतने क्षमाशील होते हैं कि वे अपने प्रति किये गये किसीके अपराधकी ओर देखते ही नहीं । साधारण लोग अपनेको गाली देनेवालेको दुगुनी-चौगुनी गाली देते हैं, मार बैठते हैं; उनसे ऊँचे साधारण व्यक्ति गालीका बदला गालीसे देते हैं; उनसे ऊँचे मनुष्य गाली तो नहीं देते, परंतु पाँच आदमियोंको इकट्ठा करके उन पंचोंसे उसे दण्ड दिलवाते हैं; कुछ लोग पुलिसमें डायरी लिखते या अदालतमें नालिश कर देते हैं। जो बहुत आगे बढ़े हुए लोग माने जाते हैं, वे यह सब कुछ भी न करके ऐसा कहते हैं कि 'भगवान् सब देखते ही हैं, वे न्याय करेंगे।' अर्थात् वे भगवान्‌के यहाँ फरियाद कर देते हैं। परंतु महात्मा पुरुष यह सब कुछ भी नहीं करते; वे अपनी ओरसे उसे दण्ड दिलवानेकी कोई भी चेष्टा नहीं करते। बल्कि उसका अपराध क्षमा करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि 'भगवन् ! यह बेचारा अज्ञानी है, तभी तो इसने बुरे परिणामका खयाल न करके अपराध किया है, आप इसे कृपापूर्वक क्षमा कर दें।' किसी भी वरदानकी आकाङ्क्षा-अभिलाषा मनमें न रखनेवाले भक्त प्रह्लाद अपने पिताकी बुराइयोंका तथा उसके परिणामका खयाल करके काँप जाते हैं और भगवान्‌से प्रार्थना कर बैठते हैं—

'महेश्वर ! वर देनेवालोंके स्वामी ! मैं आपसे एक वर माँगता हूँ । मेरे पिताने आप सर्वशक्तिमान् चराचरगुरुको न पहचानकर आपकी बड़ी निन्दा की थी । आपका भक्त होनेके कारण मुझसे द्रोह किया था । दीनबन्धो ! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, आप जल्दी नाश न होनेवाले इस दुस्तर दोषसे मेरे पिताजीको मुक्त कर दीजिये, उनको तार दीजिये ।'

उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥

संनिपातका रोगी चाहे सो बकता है, वैद्यको गालियाँ देता है, कभी थप्पड़ भी मार देता है; पर इससे क्या बुद्धिमान् वैद्य उससे बदला लेता है ? वह जानता है कि यह संनिपातमें है । दूसरा कोई मनुष्य यदि उस रोगीको मारना चाहता है तो वैद्य कह देता है कि 'भाई ! यह तो सन्निपातमें है, तुम तो नहीं हो, फिर तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ?' इसी प्रकार महात्मा पुरुष मोहग्रस्त मनुष्यके प्रतिकूल आचरणसे उसपर अप्रसन्न न होकर सदा क्षमा करते हैं ।

महापुरुषोंके आचरण सदा अनुकरणके योग्य होते हैं । उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है ।

महापुरुष स्वयं तीर्थरूप होते हैं । वे तीर्थोंको पवित्र तीर्थ बनानेके लिये ही वहाँ जाते हैं । संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, उनके तीर्थत्व प्राप्त करनेमें भगवान् और महापुरुष ही प्रधान कारण हैं । जहाँ भगवान्ने अवतार लिया, वही स्थान पवित्र, पवित्रकारी तीर्थ बन गया, मुक्ति देनेवाला हो गया । श्रीवृन्दावन, अयोध्या, यमुना, सरयू आदि भगवान्के अवतरणके कारण ही महान् पवित्र तीर्थ हैं ।

इसी प्रकार जहाँ महात्माओंने साधन-भजन किया, निवास

किया—वही स्थान पवित्र तीर्थ बन गया। पतिव्रताशिरोमणि अनसूयाजीने जहाँ वास किया, उस स्थानका नाम 'अनसूयाश्रम' हो गया। पतिव्रता स्त्री महात्माओंके तुल्य ही होती हैं। अनसूयाजी उच्चकोटिकी पतिव्रता थीं। जिनके यहाँ स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश अंशरूपसे अवतरित हुए थे।

श्रीभरतजी महाराज जब चित्रकूट गये थे, तब भगवान् श्रीरामका राजतिलक करनेके लिये बहुत-से तीर्थोंका जल साथ ले गये थे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका राजतिलक तो हुआ नहीं, अतः भगवान्‌की आज्ञासे उस जलको एक कुएँमें रक्खा गया। वह कुआँ आज भी 'भरतकूप' के नामसे प्रसिद्ध है। नैमिषारण्यमें हजारों ऋषि एकत्र होकर ज्ञानसत्र और भगवच्चर्चा करते थे, इसीसे वह नैमिषारण्यके नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है।

श्रीभगीरथजी बड़े उच्च कोटिके पुरुष थे और भगवान् शिव और विष्णुके परम भक्त थे। वे अपने पूर्वजोंको तारने तथा लोक-कल्याणके लिये गङ्गाजीको लाये थे। उनकी लायी हुई गङ्गाजी जिस मार्गसे निकलीं, उस मार्गके सभी स्थान तीर्थ बन गये। श्रीगङ्गाजीके लानेमें भगीरथजीने बड़ा पुरुषार्थ किया था, इससे आज भी यदि कोई महान् पुरुषार्थ करता है तो उसके पुरुषार्थको 'भगीरथ-पुरुषार्थ' कहते हैं।

ऐसे पुरुषोंकी वाणी परम पवित्र, गम्भीर आशयवाली, रहस्यमयी, अर्थयुक्त, यथार्थ, सरल और कल्याणकारिणी होती है।

इनका हृदय बड़ा ही विशाल, विशुद्ध, अचल और शान्तिमय होता है। उसमें अवगुणोंका सर्वथा अभाव होता है और अनन्त सद्गुणोंका सागर सदा-सर्वदा लहराता रहता है। उनके सङ्गसे सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ है।

जैसे कहीं एक ओर घासकी ढेरी है और दूसरी ओर आगकी ढेरी है। हवा चलती है और हवा चलकर घासको उड़ाकर आगमें डाल देती है तो वह घास आग ही बन जाता है और अग्निकी चिनगारियाँ उड़कर यदि घासमें पड़ती हैं तो भी उस घासकी आग बन जाती है। कभी ऐसा नहीं हो सकता कि आग घास बन जाय। इसी प्रकार महापुरुषोंके समीप आकर पापी धर्मात्मा बन जाते हैं, परंतु महापुरुष पापियोंके सङ्गसे पापी नहीं होते; क्योंकि उनमें ज्ञानाग्नि हर समय निवास करती है। उस ज्ञानाग्निकी चिनगारियोंसे पापरूपी घासका ढेर-का-ढेर भी हो तो वह भी भस्म हो जाता है। उनके हृदयमें जो ज्ञान है, वह वाणीके द्वारा विकसित होकर जब कानोंमें जाता है, तब अन्तःकरणमें घासके ढेरके समान जो पाप-पुञ्ज है, वह जलकर भस्म हो जाता है। उनकी उपदेशमयी वाणी ही ज्ञानाग्निकी चिनगारियाँ हैं।

इस संसारमें ऐसे-ऐसे महापुरुष हो गये हैं कि जिन्होंने अपने पुण्य-प्रभावसे लाखों-करोड़ों जीवोंका उद्धार कर दिया था। हमारी इस पृथ्वीपर कीर्तिमान् नामक एक राजा हुए हैं। वे बड़े ही भक्त, भक्तिप्रचारक और चक्रवर्ती राजा थे। सारी पृथ्वीपर उनका शासन

था। अतः उनके आचरण और उपदेशके प्रभावसे सारी पृथ्वीके लोग भगवान्‌के परम भक्त बन गये और सभी भगवान्‌के परम धामको जाने लगे। यमराजका व्यापार तो बिल्कुल बंद हो गया। यमलोकमें पहलेके जितने प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और नया प्राणी कोई गया नहीं। इस कारण यमलोक बिल्कुल खाली हो गया। तब यमराजने ब्रह्माजीके पास जाकर स्थिति बतलाते हुए कहा कि 'पृथ्वीपर कीर्तिमान् नामका एक राजा है, वह सभीको परम धाममें भेज रहा है। मेरे लोकमें एक भी प्राणी अब नहीं आता। जो पहलेके थे, वे सब परम धाममें चले गये। अब मैं क्या करूँ ?' ब्रह्माजी धर्मराजको साथ लेकर विष्णुभगवान्‌के पास गये और उनको सारी स्थिति सुनायी। भगवान्‌ने कहा—'इनका कहना ठीक है। इस समय इस पृथ्वीपर कीर्तिमान् राजा है और वह जबतक रहेगा तबतक एक भी प्राणी यमलोकमें नहीं जायगा, सब मेरे लोकमें ही आयेंगे। वह कीर्तिमान् राजा अभी दो हजार वर्षतक और रहेगा। दो हजार वर्षके बाद जब दूसरा राजा होगा, तब फिर प्राणी यमलोकमें जाने लगेंगे।'

(स्कन्दपुराण, वैष्णव०, वैशाखमा० अध्याय ११ से १३)

कितनी विचित्र बात है। हजारों वर्षोंकी आयु, समस्त पृथ्वीका शासन और ऐसा पुण्य-प्रभाव कि एक भी प्राणी यमलोकमें नहीं गया। इस कीर्तिमान् राजाको तो हम महापुरुषका महापुरुष भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

संसारमें महापुरुष हो और लोग उसकी आज्ञा मानें तो सहज

ही एक महापुरुषके प्रभावसे ही मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है। एक महापुरुषकी बात मानकर हजारों मनुष्य महापुरुष बन जायँ, फिर वे हजारों व्यक्ति भगवान्‌की भक्तिका प्रचार करें; फिर उनसे उपदेश पाये हुए लाखों पुरुष भक्त बनें, तो यों होते-होते सारे संसारके मनुष्य भगवान्‌के भक्त बन सकते हैं और समस्त संसारका कल्याण हो सकता है।

परंतु आजतक संसारमें ऐसा पुरुष कोई नहीं हुआ कि जिससे प्राणिमात्रका उद्धार हुआ हो। प्राणिमात्रका उद्धार हो जाता तो उन लोगोंके साथ हमारा भी कल्याण हो गया होता। इसीसे यह सिद्ध है कि ऐसा कोई आजतक नहीं हुआ; परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि आगे ऐसा हो ही नहीं सकता, हो तो सकता ही है।

भगवान् उस पुरुषको इस प्रकारका अधिकार देनेके लिये बाध्य हो जाते हैं, जो भगवान्‌का उच्च-कोटिका अनन्य भक्त और परम श्रद्धालु हो, जो परम और विशुद्ध प्रेमी हो तथा सबका परम सुहृद् हो, जिस महापुरुषमें कामनाका लेश भी न हो, जिसने पहलेसे ही संसारके लोगोंके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण कर रक्खा हो एवं जो भगवान्‌से सब लोगोंके उद्धारका प्रार्थी हो। अबतक भगवान्‌के भेजे हुए जो पार्षद या अधिकारी पुरुष आये हैं, उन्होंने भी इस प्रकार सबका उद्धार नहीं किया। ऐसे महापुरुषका स्थान अभी खाली ही है। इस स्थानकी पूर्ति जिस दिन हो जायगी, उस दिन हम सबका कल्याण हो जायगा। इसपर एक कहानी है। पहलेसे लोकमें प्रचलित या नवीन कल्पनाप्रसूत

कथाको 'कहानी' कहा करते हैं ।

भगवान्‌के एक उच्चकोटिके भक्त थे । उन्होंने तन-मनसे भगवान्‌की आत्यन्तिक भक्ति की । भगवान्‌ने प्रकट होकर उनको दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी भक्तिसे मैं परम प्रसन्न हूँ, तुम्हारी इच्छा हो सो वरदान माँग लो ।'

भक्तने कहा—'जब आपने दर्शन दे दिये, तब इससे बढ़कर और क्या वरदान होगा ।'

भगवान्‌ने कहा—'ठीक है, फिर भी मेरे संतोषके लिये तुम्हारी जो भी इच्छा हो, माँग लो ।'

भक्तने कहा—'प्रभो ! जब आप इस प्रकार बार-बार कह रहे हैं, तब मैं यही वरदान माँगता हूँ कि प्राणिमात्रका कल्याण हो जाय, आप सब जीवोंका उद्धार कर दीजिये ।'

भगवान्‌ने कहा—'सब जीवोंका उद्धार कैसे हो सकता है ? उन सबके पाप कौन भोगेगा ?'

भक्तने कहा—'मैं भोगूँगा । आप सबके पाप मुझे भुगताते रहें और मैं भोगता रहूँ ।'

भगवान्‌ने कहा—'तुम मेरे अनन्य भक्त हो, विशुद्ध भक्त हो । तुमको मैं सारे प्राणियोंके पापोंका फलरूप दुःख कैसे भुगता सकता हूँ ।'

भक्त बोला—'न भुगतायें तो भगवन् ! माफ कर दीजिये ।'

भगवान् बोले—'यह भी सम्भव नहीं ।'

भक्तने कहा—'आपके लिये तो कुछ भी असम्भव नहीं है ।

आप जब चाहें, सबका उद्धार कर सकते हैं। आप साक्षात् परमात्मा हैं। सबके महान् ईश्वर हैं। आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। आप यदि कहें कि ऐसा हो ही नहीं सकता तो फिर प्रभो! आपको यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी कि तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो। आपको स्पष्ट यह कहना चाहिये था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, स्वर्ग, मुक्ति आदि जो भी इच्छा हो माँग लो।'

भगवान्‌ने कहा—'भाई! तुम्हारी विजय हुई, मैं हारा।'

भक्त बोला—'भगवन्! इस विजयमें मुझे क्या मिला? इस विजयको आप अपने ही पास रक्खें! मेरी तो विजय सबके कल्याणमें ही है।'

भगवान्‌ने कहा—'सबका कल्याण होना तो सम्भव नहीं, हाँ, एक बात है—मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन और नाम-जपसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है। वही सामर्थ्य मैं तुमको देता हूँ। अब तुम्हारे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तनसे तथा तुम्हारा नाम लेनेसे भी मनुष्यका कल्याण हो जायगा।'

भक्त बोला—'प्रभो! इतना ही सही।'

इसके बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भक्तने भगवान्‌की यह बात स्वीकार कर ली। वह कहीं अड़ गया होता तो सभीका कल्याण हो सकता था।

इसलिये उचित है कि हमलोग ऐसे ही निष्कामी, त्यागी, उदारचित्त, दयालु, श्रद्धालु अनन्य प्रेमी भक्त बनें।

भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगसे भगवत्प्राप्ति

साधकके लिये आत्मोद्धारके दो मार्ग हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह है कि साधक चेष्टा करता हुआ, कर्म करता हुआ मुक्त हो जाय, जैसे जनकादि और निवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह कि साधक कर्मोंका त्याग करके मुक्त हो, जैसे श्रीशुक-सनकादि। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल संन्यास-आश्रम ही निवृत्तिमार्ग है। संन्यास-आश्रम निवृत्तिमार्ग है, यह तो ठीक है ही; किंतु गृहस्थाश्रममें भी मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों मार्गोंके अनुसार चल सकता है। गृहस्थाश्रममें निवृत्तिमार्गके अनुसार चलनेका अर्थ है—वानप्रस्थकी भाँति जंगलमें एकान्तमें गिरि-गुहाओंमें रहना तथा सांसारिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि कर्मोंसे उपरत होकर भगवान्‌का भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय करना और ज्ञान-वैराग्यमें मग्न होकर अपना समय बिताना। पर भोजन-वस्त्र आदि जीवननिर्वाहके साधन अपने घरवालोंके सिवा दूसरोंसे ग्रहण न करना। यह निवृत्तिमार्गके तुल्य है। इस प्रकार निवृत्तिमार्गका पालन गृहस्थ भी कर सकता है; यह प्रवृत्तिमें ही निवृत्ति है।

किंतु यदि कोई संन्यासी होकर प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करता है तो वह निवृत्तिमें प्रवृत्ति है और वह पतन करनेवाली है। साधु-

संन्यासी होकर कञ्चन-कामिनीके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना या स्त्रीसे शरीरकी सेवा कराना उसके लिये कलङ्क है; क्योंकि स्त्री और रुपयोंके संस्पर्शसे या इनमें प्रेम करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है। श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने ॥
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी ।
हृदि सस्नेहभावेन चेद् द्रक्ष्येत् स्त्रियमेकदा ॥
कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः ।

(काशी० पूर्वार्ध० ४१ । २५—२७)

'संन्यासी यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी भर भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है,—यह सनातन श्रुति है। यदि एक बार भी वह हृदयमें स्नेहभावसे (आसक्तिपूर्वक) किसी स्त्रीको देख ले तो उसे दो करोड़ ब्रह्मकल्पोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।'

संन्यासीका धर्म बहुत ही कठिन है और साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवाना, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करना और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करना महान् अनुचित है।

गृहस्थाश्रममें मनुष्यकी अवस्था जब पचास वर्षसे अधिक हो जाय तो शास्त्र कहते हैं कि उसे गृहस्थाश्रमसे पृथक् हो वनमें जाकर

वानप्रस्थाश्रमका सेवन करना चाहिये। स्त्रीकी इच्छा हो तो वह उसे भी अपने साथ रख सकता है, किंतु दम्पतिको सदा संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतसे रहना चाहिये, वनमें रहकर दोनोंको तपस्या करनी चाहिये एवं अपने कल्याणके लिये शास्त्रानुकूल साधन करना चाहिये। ग्रीष्मकालमें चार महीने पञ्चाग्नि तपना यानी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों ओर अग्नि जलाकर, उसके बीचमें बैठकर सूर्यके तापका सेवन करना, वर्षाकालमें चार महीने आवरणरहित खुली जगहमें बैठकर वर्षाका सेवन करना, शीतकालमें चार महीने जलाशयमें गलेके नीचेतक जलमें रहना या गीले वस्त्र धारण करना और रात्रिके समय स्त्री-पुरुष दोनोंका ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक अपने बीचमें किसी प्रकारका व्यवधान रखकर अलग-अलग भूमिपर सोना—इत्यादि ये वानप्रस्थ-आश्रमके धर्म बतलाये गये हैं। मनुस्मृतिमें लिखा है—

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥
(६। २३-२४)

'अपने तपको क्रमसे बढ़ाता हुआ वानप्रस्थी ग्रीष्मऋतुमें पञ्चाग्निमें तप करे, वर्षाऋतुमें आवरणरहित मैदानमें बैठा रहे और हेमन्त (जाड़ेकी) ऋतुमें गीले वस्त्र धारण करे। तीनों काल स्नान करके पितर और देवताओंका तर्पण करे तथा कठोर तपस्या करके अपने शरीरको सुखावे।'

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्ववममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥

(६ । २६)

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका प्रयत्न न करे, ब्रह्मचारी रहे, भूमिपर सोये, निवासस्थानसे ममता न करे और वृक्षकी जड़में निवास करे ।'

उपर्युक्त वानप्रस्थ-आश्रमके धर्मोंका पालन करना भी इस समय संन्यास-आश्रमकी तरह बहुत ही कठिन है । इसलिये आजकल इस कलिकालमें वानप्रस्थ-आश्रमको ग्रहण न करके गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही जो उपर्युक्त प्रकारसे निवृत्तकी ज्यों रहता है और भगवान्‌की भक्ति करता है तो उसका कल्याण हो सकता है; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है । पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, इसी प्रकार गृहस्थमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल—सभी भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं । भगवान्‌ने गीताके नवम अध्यायके ३२ वें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि भगवान्‌की भक्ति—शरणागतिमें, भगवान्‌की प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है । ब्राह्मण, क्षत्रिय उत्तम वर्णोंके लिये तो और भी विशेषता है । स्वयं भगवान् कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(गीता ९ । ३३)

'फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरे शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

इन शब्दोंसे उनकी विशेषता सिद्ध होती है । इससे यह बात भी सिद्ध हो गयी कि गृहस्थाश्रममें, प्रवृत्तिमार्गमें रहनेपर भी मनुष्यका भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे कल्याण हो सकता है । इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर कर्मयोगसे भी कल्याण हो सकता है । भगवान्‌ने कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
(गीता ६ । १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है ।'

यदि कोई पूछे कि 'एक व्यापारी वैश्य अपनी दूकानका काम करता है तो उस भाईको किस प्रकार काम करना चाहिये ?' तो इसका उत्तर यह है कि वह जिस प्रकारका व्यापार कर रहा है, उसमें परिवर्तनकी कोई जरूरत नहीं है । वह गल्ला-किराना, कपड़ा-सूत,

चाँदी-सोना अथवा घी, तेल, चीनी आदि किसी भी वस्तुका व्यापार करता है, उसे ज्यों-का-त्यों करता रहे, उसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि वैश्यके लिये क्रय-विक्रय करना शास्त्रका विधान है, किंतु उसे वह व्यापार करना चाहिये—कर्तव्य समझकर सबके साथ समान व्यवहार करते हुए सत्यतापूर्वक निष्कामभावसे।

महाभारतके शान्तिपर्वमें तथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बतलाया है कि तुलाधार वैश्य मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओंको छोड़कर सब प्रकारके रस बेचा करता था, किंतु वह झूठ, कपट, विषमता और लोभको त्यागकर व्यापार करता था। उसके प्रभावसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

हमलोगोंके व्यवहारमें जो विषमता है, एकके साथ अच्छा और दूसरेके साथ बुरा व्यवहार है, वह न होकर सबके साथ समताका व्यवहार होना चाहिये और व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी इत्यादिका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये। झूठ, कपट, बेईमानी तथा दगाबाजीके व्यापारसे मुक्ति तो दूर रही, उल्टे नरकोंकी प्राप्ति होती है। व्यापारमें जो स्वार्थत्यागरूप निष्कामभाव है, वही आत्माका कल्याण करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण साधन है। निष्कामभावमें इतनी शक्ति है कि उसके प्रभावसे झूठ, कपट, बेईमानी आदि समस्त बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये। कर्मोंमें अभिमान, ममता, आसक्ति और फलकामना आदिका त्याग कर देना ही स्वार्थका त्याग कर देना है; यही निष्कामभाव (कर्मयोग) है और यह निष्कामभाव

ही मुक्ति देनेवाला है । भगवान्‌ने कहा है—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(२ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकार-रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ।'

निष्कामभावके कई भेद हैं, उनमें 'भगवदर्थ कर्म करना' उच्चकोटिका निष्कामभाव है । जैसे कोई व्यापारी—वैश्य है तो उसे यह निश्चय करना चाहिये कि 'मेरी दूकान भगवान्‌की है और मैं भी भगवान्‌का हूँ तथा ये सब वस्तुएँ भी भगवान्‌की हैं ।' इस प्रकार सब वस्तुओंको भगवान्‌की समझकर और स्वयं भगवान्‌का सेवक बनकर काम करे तथा सदा निश्चितरूपसे यही समझे कि 'मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, सेवा करनेके लिये मेरी यहाँ नियुक्ति हुई है । मुझे जो भोजन-वस्त्र मिलते हैं, बस, वही मेरा वेतन है । घरमें जितने व्यक्ति हैं, वे सब भगवान्‌के हैं, उनकी सेवा करना भगवान्‌की ही सेवा करना है ।' दूकानके कामके रूपमें सेवा करते समय यह समझे कि 'भगवान्‌की दूकान प्राणिमात्रकी सेवाके लिये है; क्योंकि विश्वके सभी प्राणी भगवान्‌की प्रजा हैं या सभी उनकी संतान हैं ।' इस प्रकार सबको भगवान्‌की प्रजा या संतान समझकर अपने व्यापारके द्वारा निःस्वार्थभावसे सबका हित और सबकी सेवा करनेसे भगवान् बड़े ही प्रसन्न होते हैं और भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

इससे भी उच्चकोटिका एक साधन है और उसको निष्कामभावसे करनेपर और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है। वह उच्चकोटिका साधन है—सबमें परमात्माको व्यापक समझकर उन सबकी सेवा करना। जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, इसी प्रकार परमात्मा समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। यों समझकर सबकी सेवाके रूपमें परमात्माकी सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार सेवा करनेसे परम सिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

'सबमें भगवान् व्यापक हैं'—इससे भी ऊँचा भाव यह है कि 'सभी नारायणके स्वरूप हैं।' इस प्रकार सबको नारायण समझकर व्यापारके द्वारा सबकी सेवा करनेसे तो अत्यन्त शीघ्र आत्माकी शुद्धि होकर परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

कोई भी व्यापारी हमारी दूकानपर आये तो 'स्वयं भगवान् ही आये हैं'—यों समझकर अपने व्यापारके द्वारा उनकी आदर-सत्कारपूर्वक सेवा करनी चाहिये। हम किसीसे कोई वस्तु खरीदें तो यह ध्यान रहना चाहिये कि हमारे द्वारा उसकी अवश्य ही कुछ सेवा हो और

हम किसीको कोई वस्तु बेचें तो उस खरीददारके प्रति हमारा यह भाव रहना चाहिये कि भगवान् हमारे घरपर पधारे हैं; अतः उनकी सेवा करना हमारा परम धर्म है और उसे छल-कपटरहित होकर वस्तुकी असली स्वरूप-स्थिति बतानी चाहिये, जिससे वह ठगा न जाय और उचित मूल्यपर उसे वह वस्तु देनी चाहिये।

इसी प्रकार कोई भाई किसी ऐसी सार्वजनिक संस्थाका काम करते हों, जहाँ वास्तवमें व्यक्तिगत स्वार्थ न होनेके कारण झूठ-कपट प्रायः नहीं है तो वहाँ उन कार्यकर्त्ता भाईको कार्यमें विशेष परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह कार्य स्वरूपसे ही जनताकी सेवाके लिये है और वहाँ स्वार्थ, झूठ-कपट और विषमताका भी कोई कारण नहीं है, किंतु व्यक्तिगत स्वभावदोषके कारण यदि कहीं स्वार्थ, झूठ-कपट और विषमताका दोष आता हो तो उसका सुधार होना कठिन बात नहीं है, थोड़ी चेष्टा करनेपर ही सुधार हो सकता है। केवल बार-बार यह निश्चय करना चाहिये कि यह भगवान्‌का ही काम है। फिर अपने-आप ही दोषोंका अभाव हो सकता है। पर बात तो दूसरी है। हमलोग वाणीसे तो कहते हैं कि 'यह भगवान्‌का काम है', किंतु वास्तवमें यह बात अभी अच्छी तरहसे हमलोगोंकी समझमें आयी नहीं है। निश्चितरूपसे समझमें आयी होती तो हम चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला और प्राणिमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझते और प्रत्येक कार्यमें भगवान्‌की सेवाका अनुभव होते रहनेसे कार्य करते समय क्षण-क्षणमें हमारे चित्तमें अतिशय प्रसन्नता और शान्तिका सागर लहराता रहता। सेवा करते समय यह भाव रहना चाहिये कि हम भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार

भगवान्‌की ही सामग्रियोंके द्वारा भगवान्‌की ही सेवा कर रहे हैं। सारे कार्य यदि ठीक-ठीक हो रहे हों तो उनमें बाहरी सुधारकी बहुत ही कम आवश्यकता रहती है। अधिक बिगड़ा हुआ कार्य हो तो उसमें अधिक सुधार करना पड़ता है और कम बिगड़ा हुआ हो तो थोड़े प्रयत्नसे ही उसका सुधार सम्भव है। जिस सार्वजनिक संस्थामें किसी प्रकारकी चोरी, बेईमानी नहीं की जाती, उसके कार्यके सुधारमें कोई कठिनाई नहीं है। फिर भी यत्किञ्चित् कहीं शास्त्रके विरुद्ध क्रिया होती हो तो उसका शीघ्र सुधार कर लेना उचित है। असल बात तो यह है कि हम सबमें भगवद्‌बुद्धि करें; क्योंकि उच्चकोटिके महापुरुषोंकी स्थिति बतलाते हुए स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

अतएव सबको परमात्माका स्वरूप समझकर निःस्वार्थ प्रेम भावसे उनकी सेवा करनी चाहिये। एवं हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही सब कार्य करने चाहिये; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला ही उनका सच्चा प्रेमी भक्त है। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें अपनी प्रजाके प्रति उपदेश देते समय स्वयं भगवान् रामने यह बात कही है—

सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

'वही तो मेरा सेवक है, वही मेरा प्रियतम है जो मेरी आज्ञाका पालन करता है।'

गीतामें भी अर्जुनके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(४। ३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है तथा तुझको मैंने जो उपदेश दिया है, यह उत्तम रहस्यकी बात है।'

भगवान्‌ने अर्जुनको अपना भक्त और सखा बतलाया; क्योंकि अर्जुनका दास्यभाव भी था और सख्यभाव भी। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य यह है कि वही मेरा सच्चा भक्त, वही मेरा सखा और वही मेरा प्रेमी है, जो मेरी आज्ञाका पालन करता है। अर्जुन भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला परम भक्त था, इसलिये गीताका उपदेश देकर भगवान्‌ने स्वयं १८ वें अध्यायमें अर्जुनसे पूछा कि 'अर्जुन! तेरे मोहका नाश हुआ या नहीं, मैंने तुझसे जो कुछ कहा, उसको तूने ध्यान देकर सुना या नहीं?' अर्जुनने उत्तरमें कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(१८। ७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

अर्जुन भगवान्‌के उच्चकोटिके भक्त थे, अतएव भगवान्‌ने अर्जुनको

निमित्त बनाकर ही संसारके कल्याणके लिये गीताका उपदेश किया और अर्जुनने भी भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही अपना जीवन बिताया। अतः अर्जुनको आदर्श मानकर हमलोगोंको भी भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि कहें कि 'उस समय तो भगवान् साक्षात् प्रकट थे, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन सुगम था, इस समय तो वे प्रकट नहीं हैं, इसलिये हम भगवान्‌की आज्ञाका पालन कैसे करें।' तो यह बात अपने भावके ऊपर निर्भर करती है। जो मनुष्य गीताको ही भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी आज्ञाका पालन करता है, भगवान् उसके हृदयमें प्रेरणा करते रहते हैं। हमको प्रत्येक काममें भगवान्‌से पूछना चाहिये कि 'प्रभो! इसमें आपकी क्या सम्मति है?' तो सबके हृदयमें स्थित हुए भगवान् हमारे हृदयमें स्वयं प्रेरणा कर सकते हैं कि हमारी यह सम्मति है।

भगवान् तीन प्रकारसे अपनी आज्ञाका प्रयोग करते हैं—(१) महात्मा पुरुषोंके द्वारा, (२) सत्-शास्त्रोंके द्वारा और (३) साधकके शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा। इसलिये महात्मा पुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार चलना ही भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना है; क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने गीताके सातवें अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहा है कि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। अतः हमलोगोंके लिये कोई कठिनाई नहीं है। यद्यपि संसारमें ऐसे महापुरुषोंका मिलना कठिन है; क्योंकि लाखों-करोड़ोंमेंसे कोई एक ही ऐसा महापुरुष होता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है ।'

इसलिये हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि जिस पुरुषके द्वारा हमको सत्-शिक्षा मिले, जिस पुरुषकी बात सुनकर हममें दैवी सम्पदाके लक्षण आयें तथा भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये वही महात्मा है । यदि एक मनुष्य साधक है, पर उसमें उत्तम-उत्तम गुण-आचरण विद्यमान हैं, वह दैवीसम्पदासम्पन्न है और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें संलग्न है तथा साधकोंमें श्रेष्ठ है, तो हम उसको भी महात्मा समझकर उसकी आज्ञाका पालन करें तो उसमें हमारा लाभ ही है । ऐसा साधक महात्माके तुल्य ही है; क्योंकि गीतामें नवम अध्यायके १३ वें श्लोकमें साधकको भी गौणीवृत्तिसे महात्मा ही बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ।'

अतः हमारे लिये कोई कठिनता नहीं है । संसारमें वास्तविक महात्माओंका अभाव नहीं है । जो सच्चे हृदयसे महात्माको चाहता है, उसे भगवत्कृपासे महात्मा मिल जाते हैं । हमारे हृदयमें श्रद्धा होनी चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि शास्त्रोंके वचन भगवान्‌के ही वचन

हैं। इसलिये शास्त्रकी आज्ञा भगवान्‌की ही आज्ञा माननी चाहिये। गीता, रामायण, महाभारत, भागवत, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि जितने भी शास्त्रग्रन्थ हैं, वे वास्तवमें भगवान्‌की आज्ञा हैं और गीता तो साक्षात् भगवान्‌के श्रीमुखके वचन हैं ही। वेद ब्रह्माजीके द्वारा प्रकट हुए हैं, पर वास्तवमें वह भगवान्‌की ही आज्ञा हैं और ऋषि-मुनियोंने जो कुछ कहा है, सब वेदोंके आधारपर ही कहा है; इसलिये उनके वचन भी भगवान्‌के ही वचन हैं।

तीसरी बात यह है कि हमें यदि यह विश्वास हो कि भगवान् सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान हो रहे हैं, तो प्रत्येक बातके लिये हम उनसे पूछ सकते हैं और वे हमको अन्तःप्रेरणाके द्वारा समुचित सम्मति या आदेश दे सकते हैं। अच्छी नीयतसे पूछे जानेपर हमारे शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा भगवान्‌की आज्ञा सुगमतासे मिल सकती है।

वस्तुतः हमलोगोंको भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। अर्जुनको उपदेश दिया, उस समय भगवान् थे और अब नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। भगवान् तो सदा-सर्वदा ही सर्वत्र विद्यमान हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ भगवान् न हों और ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें भगवान् न हों। भगवान् सब देशमें, सब कालमें और सब पदार्थोंमें सदा ही विराजमान होकर रहते हैं। अतः जिसके हृदयमें विश्वास और श्रद्धा है, उसके लिये भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह वर्तमान हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर हमको भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहिये। निःस्वार्थ भावसे

संसारभरकी सेवा करना ही भगवान्‌की मुख्य आज्ञा है; क्योंकि चर और अचररूप सारा संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है, भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु नहीं है तथा भगवान् ही इस संसारके रचनेवाले हैं; इसलिये भगवान् ही इसके अभिन्न उपादान और निमित्त कारण हैं। अतएव यह संसार भगवान्‌का ही रूप है—इस प्रकार समझकर जो संसारकी सेवा करता है, वह भगवान्‌की ही सेवा करता है। जिसका उपर्युक्त प्रकारसे सबमें भगवद्भाव हो जाता है, उसके लिये सबकी सेवारूप साधन बहुत ही सुगम है। अतः निष्कामभावसे सबकी सेवा करके मनुष्यजन्मको सफल बनाना चाहिये।

हमलोगोंपर ईश्वरकी बड़ी ही दया है, जो हमें इस समय सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर मिलना दुर्लभ है, मनुष्यका शरीर मिल जाय तो मुक्तिके केन्द्र भारतवर्षमें जन्म होना कठिन है, भारतवर्षमें जन्म होनेपर भी वैदिक सनातन-धर्ममें निष्ठा होनी बहुत ही दुर्लभ है और यदि सनातनधर्ममें निष्ठा हो गयी तो शास्त्रोंका ज्ञान होना कठिन है एवं शास्त्रोंका कुछ ज्ञान हो जानेपर भी महात्मा पुरुषोंका सङ्ग मिलना बहुत ही दुर्लभ है। ये सारी बातें मिलकर भी यदि हम साधन न करनेके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जायँ तो हमारे समान संसारमें और कौन मूर्ख होगा। ये सब बातें ध्यानमें रखकर जल्दी-से-जल्दी मनुष्यजीवनको सफल बनाना चाहिये; क्योंकि शरीरका क्षणभरका भी भरोसा नहीं है। आज यदि मृत्यु आकर प्राप्त हो जाय तो हमें आज ही मरना पड़ेगा। एक क्षणका भी समय किसी हालतमें भी नहीं बढ़ सकता। ऐसी परिस्थितिमें हमको धोखेमें नहीं रहना चाहिये। समयको

अमूल्य समझकर हर समय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कर्मोंका आचरण करना चाहिये। यही गीताका सिद्धान्त है। गीताके आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये भगवान्‌ने कहा कि 'तू सब समयमें मुझे स्मरण रखता हुआ युद्ध कर।' इसी प्रकार वैश्यके लिये कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य और शूद्रके लिये सेवा करना बताया है और कहा है कि अपने-अपने कर्मोंके द्वारा जो मेरी सेवा करता है, वह परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस भावको ध्यानमें रखकर हमलोगोंको अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निष्कामभावसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

उपर्युक्त श्लोकमें जो भगवान्‌ने यह कहा है कि 'मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा'—इसका यह अभिप्राय है कि 'परमात्मा है'—इस भावका बुद्धिमें हर समय निश्चय रखना—यह बुद्धिका परमात्मामें समर्पण है; और बुद्धिके निश्चयके अनुसार ही परमात्माका हर समय मनसे चिन्तन करना—यह मनको परमात्माके अर्पण करना है। ऐसा करनेसे निःसंदेह परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

'निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा'—इस कथनका यह अभिप्राय है कि यहाँ इस शङ्काकी गुंजाइश थी कि 'सब काम-धंधोंको छोड़कर और एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करनेसे मुक्ति हो जाती है, इसमें तो कोई संशय नहीं है; किंतु सदा काम करते हुए मुक्ति कैसे हो सकती है ?' इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌ने यह कहा कि युद्धादि कर्म करते हुए भी मन-बुद्धि मुझमें समर्पित रहनेसे निःसंदेह मेरी प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये १८ वें अध्यायके ५६ वें श्लोकमें भी भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होकर सदा-सर्वदा कर्म करनेका अभिप्राय यह है कि कार्य करते हुए मनमें सदा यह भाव रहे—मैं जो काम करता हूँ, वह भगवान्‌का काम है। मैं जो सेवा करता हूँ, भगवान्‌की सेवा करता हूँ। पदार्थमात्र सब भगवान्‌के स्वरूप हैं और उन सबकी जो चेष्टा हो रही है, वह सब भगवान्‌की लीला है। मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं। उन स्वामीकी मैं इस रूपमें सेवा कर रहा हूँ। भगवान्‌की मुझपर बड़ी दया है, जो मुझे इस कामके लिये निमित्त बनाकर मुझसे सेवा ले रहे हैं।' इस प्रकार सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करनी चाहिये। ऐसी सेवा हमारे द्वारा हो रही है या नहीं, इसके जाँचनेकी कसौटी यह है कि जब इस प्रकार निष्कामभावसे सबकी सेवा होने

लगेगी, तब हमारे चित्तमें राग, द्वेष, हर्ष, शोक, स्वार्थ और अभिमान आदि विकार नहीं होंगे।

जैसे, कोई मुनीम किसी मालिकके यहाँ काम करता है और उस मालिकके मुनाफा या नुकसान होता है तो वह उस मालिकका ही है, मुनीमका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो एक निमित्तमात्र है; इसी प्रकार हम अपनेको निमित्तमात्र समझें और मुनाफा या नुकसान भगवान्‌का समझें तो फिर न तो किसीमें आसक्ति होगी और न किसीमें द्वेष होगा। भगवान्‌का सेवक बनकर जो काम किया जाता है, वह बहुत उच्च कोटिका काम होता है। जबतक मनुष्य किसी कामको व्यक्तिगत निजी काम समझकर करता है, तभीतक उसमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं। भगवान्‌का काम समझकर करनेपर ये विकार नहीं होते और इस प्रकार करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतः काम चाहे अपना व्यक्तिगत हो, या किसी संस्थाका, उसे भगवान्‌का समझकर करना चाहिये। किसी संस्थामें चाहे वेतन लेकर काम करते हों या बिना वेतन लिये, नीयत शुद्ध होनी चाहिये; फिर दोनोंके लिये सिद्धान्तसे कोई भेद नहीं है। वास्तवमें यदि किसीके पास धन-सम्पत्ति न हो तो उस स्थितिमें वह संस्थामें काम करके प्रसादके रूपमें शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कुछ लेता है तो उसमें कोई दोष नहीं है; बल्कि वह उसके लिये गौरवकी बात है। क्योंकि वास्तवमें जगत्‌में जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का ही है। हम कहीं रोटी खाते हैं, उसे भगवान्‌का प्रसाद मान लें तो वह भी भगवान्‌का ही प्रसाद है। हम उसे प्रसाद न मानें तो नहीं है।

इसलिये हमको यह निश्चय रखना चाहिये कि जो कुछ है, सब परमात्माका ही है तथा मैं भी परमात्माका हूँ एवं सम्पूर्ण चराचर परमात्माका स्वरूप है। इस प्रकार समझकर हँसते-हँसते सबकी निःस्वार्थ भावसे सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके कालमें समय-समयपर हमारे हृदयमें हर्षातिरेकसे रोमाञ्च होना चाहिये, प्रफुल्लता होनी चाहिये, अश्रुपात होना चाहिये।

थोड़ी देरके लिये मान लें कि वास्तवमें साक्षात् ही भगवान् यहाँ आ जायँ और उनकी सेवाका कार्य हमें प्राप्त हो जाय तो उस सेवा करनेके समय हमारे चित्तमें कितनी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होता है। इसी प्रकारकी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द हमको उस समय मिल सकता है, जब हमारी वास्तवमें यह श्रद्धा हो जाय कि सब परमात्माका स्वरूप है और हम परमात्माकी ही सेवा कर रहे हैं।

जब हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि जो कुछ है, वह परमात्माका ही स्वरूप है, तब उस परमात्माकी निष्काम सेवा करनेपर परमात्माकी दयासे हमें परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। यह बड़ा ही उच्चकोटिका साधन है। हमें इस साधनको करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होनी चाहिये, मुग्ध हो जाना चाहिये, चित्तमें अतिशय उल्लास और आमोद-प्रमोद होना चाहिये।

इस प्रकार मनुष्य प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुए भी उपर्युक्त भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगके साधनके द्वारा सुगमतापूर्वक ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

आत्मोन्नतिमें सहायक बातें

शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंके सुधारकी अपेक्षा मनके सुधारपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि मनके भाव ही क्रियारूपमें परिणत होते हैं, अतः मनके सुधारसे शरीर और इन्द्रियोंका सुधार स्वतः ही हो जाता है। यदि शरीर और इन्द्रियोंके साथ मन नहीं है तो उनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है। शरीर और इन्द्रियोंके बिना भी मन क्रिया करता रहता है। उसका एक क्षण भी क्रियारहित रहना कठिन है। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(३।५)

'निस्संदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।'

श्रीभगवान्‌के ये वचन प्रधानतया मनकी क्रियाको लक्ष्य रखकर ही हैं; क्योंकि शरीर और इन्द्रियोंकी क्रिया निरन्तर चालू नहीं देखी जाती। अतः मनकी क्रियाओंके सुधारका विशेष प्रयत्न करना चाहिये। मनके द्वारा अनेक प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उनको हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, उपरति, सद्गुण और सदाचारविषयक मनन स्वाभाविक ही होना एवं प्रयत्नसे करना। भगवान्के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदिका अथवा नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष ब्रह्मका अभेदरूपसे मनन और निदिध्यासन करना, संसारके भोगोंको दुःखरूप, क्षणभङ्गुर, नाशवान् समझना तथा अन्तःकरणमें क्षमा, दया, समता, शान्ति आदि उत्तम गुणोंका भाव होना एवं यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, संयम, परोपकार, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि उत्तम आचरणोंको निष्कामभावपूर्वक करने एवं दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, व्यर्थ चेष्टा और भोगोंके त्याग करनेकी इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना—ये सब तो मनकी आत्मकल्याणके लिये होनेवाली अध्यात्म (परमार्थ) विषयकी क्रियाएँ हैं।

(२) स्वाद-शौक, ऐश-आराम, कञ्चन-कामिनी, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके विषयभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना—यह मनकी स्वार्थविषयकी क्रियाएँ हैं।

(३) मनमें किसी भी नगर, मकान, वन, पहाड़, नदी, तालाब, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो व्यर्थ स्फुरणाएँ होने लगती हैं, जिनसे अपना कोई सम्बन्ध या प्रयोजन नहीं है तथा जिनसे न परमार्थ सिद्ध होता है और न स्वार्थ ही एवं जिनमें न पुण्य है और न पाप—ये सब मनकी व्यर्थ स्फुरणाएँ हैं। प्रायः अधिकांश मनुष्योंके ऐसी ही स्फुरणाएँ हुआ करती हैं।

(४) काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, नास्तिकता आदि

भावोंकी, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्म करनेकी तथा कर्तव्य कर्मोंको न करनारूप प्रमाद आदिकी स्वतः ही इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना अथवा जान-बूझकर करना—ये सब मनकी पापमयी क्रियाएँ हैं।

इन चारोंमेंसे पहली परमार्थविषयकी क्रियाएँ सात्त्विकी, दूसरी स्वार्थविषयकी क्रियाएँ राजसी और तीसरी व्यर्थ क्रियाएँ तथा चौथी पापमयी क्रियाएँ तामसी हैं। इनमें सात्त्विकी क्रियाएँ तो बहुत ही कम होती हैं। अधिकांशमें राजसी-तामसी ही होती हैं। सात्त्विकी क्रियाओंमें भी श्रद्धा, भक्ति और वैराग्यपूर्वक नित्य-निरन्तर परमात्माका स्मरण-चिन्तन करना ही सर्वोपरि है। अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि मनसे राजसी और तामसी इच्छा, स्फुरणा और संकल्पोंका सर्वथा त्याग करके केवल अध्यात्मविषयकी सात्त्विकी उत्तमोत्तम क्रियाओंके लिये ही जी-तोड़ प्रयत्न करे।

× × ×

समय बहुत कम है। भगवान्‌पर निर्भर होकर जोरके साथ चलना चाहिये। लाख रुपया खर्च करनेपर भी एक मिनटका समय भी और नहीं मिल सकता। इसलिये सारा समय भगवान्‌की प्राप्तिके उपायमें ही लगाना चाहिये।

× × ×

समय बहुत कम रह गया है—ऐसा समझकर घबरायें नहीं कि अब कल्याण कैसे होगा। अबसे लेकर मरणपर्यन्त जो भी समय है, उसमें भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये। हर समय भगवान्‌को पकड़े

रखना चाहिये। भगवान्‌को निरन्तर याद रखना ही उनको पकड़े रखना है। भगवान्‌को पकड़े रहोगे तो फिर तुम्हारे कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है। यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं, जो तुम्हें नरकमें ले जा सके।

× × ×

परमात्माने हमको बुद्धि-विवेक दिया है, उसे काममें लाना चाहिये। वही मनुष्य बुद्धिमान् है, जो अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताता और सारा समय अच्छे-से-अच्छे काममें लगाता है।

× × ×

चाहे कोई कैसा भी पापी-से-पापी भी क्यों न हो, उसका भी कल्याण हो सकता है। केवल शर्त यही है कि अबसे लेकर मृत्युपर्यन्त भगवान्‌को भूले ही नहीं। भगवान्‌को हर समय याद रखना ही सबसे बढ़कर उपाय है।

× × ×

हमको यह मनुष्य-जन्म मिला है—आत्माके कल्याणके लिये। किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके कार्यको छोड़कर संसारके फंदेमें फँस रहा है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा?

× × ×

एकान्तमें बैठकर नित्य यह विचार करे कि ईश्वर क्या है? मैं कौन हूँ? मैं कहाँसे आया हूँ? मैं क्या कर रहा हूँ? मुझे क्या करना चाहिये? इस प्रकार विचारकर दिन-पर-दिन अपनी उन्नतिमें अग्रसर होना चाहिये।

× × ×

मनुष्य-शरीर पाकर यदि परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई, उनका तत्त्वज्ञान नहीं हुआ तो यह जन्म ही व्यर्थ गया। मानवजन्मका समय बहुत ही दामी है, इसको सोच-सोचकर बिताना चाहिये।

× × ×

भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें उत्तम-से-उत्तम साधन है—भगवान्‌को हर समय याद रखना। इसके समान और कोई साधन है ही नहीं। चाहे कोई उत्तम-से-उत्तम भी कर्म हो, पर वह भगवत्स्मृतिके समान नहीं है। चाहे भक्तिका मार्ग हो, चाहे ज्ञानका, चाहे योगका। सभी मार्गोंमें भगवान्‌की स्मृतिकी ही परम आवश्यकता है।

× × ×

भगवान्‌से मन हट जाय तो उस समय ऐसी तड़पन होनी चाहिये, जैसे कि जलके बिना मछली तड़पने लगती है।

× × ×

भगवान्‌के मिलनेमें देरी हो रही है। इसमें भगवान्‌की त्रुटि नहीं है, हमारी ही कमी है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। अतः प्रभुकी सदा वर्तमान अपार अनन्त दयाको समझकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। अथवा एकान्तमें बैठकर भगवान्‌की विरह-व्याकुलतामें छटपटाकर भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

× × ×

भगवान्‌के नामका जप, रूपका स्मरण और गुणोंका मनन करनेसे, सत्सङ्ग करनेसे तथा गद्गद होकर करुणाभावसे भगवान्‌से

स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है ।

× × ×

संसाररूपी सागरमें भगवान्‌के चरण ही सुदृढ़ नौका है, उसे मजबूतीसे पकड़ लेना चाहिये । भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको सर्वतोभावेन समर्पण कर देना ही मजबूतीसे चरणरूपी नौका पकड़ना है ।

× × ×

यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान् हैं, मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं और मुझे भी मिल सकते हैं ।

× × ×

श्रद्धा करने योग्य चार पदार्थ हैं—१. भगवान्, २. महात्मा, ३. शास्त्र, ४. परलोक । किंतु अनन्य प्रेम करने योग्य एक भगवान् ही हैं ।

× × ×

जप, ध्यान, पूजा तो परमेश्वरकी ही करनी चाहिये । आज्ञापालन, भावोंके अनुकूल बनना और आचरणोंका अनुकरण करना—ये तीन महात्माओंका भी किया जा सकता है ।

× × ×

महात्माके दर्शनसे ऐसा आनन्द होना चाहिये, जैसा कि परमेश्वरके दर्शनसे हो । महात्माकी आज्ञा पालनेमें ऐसा उत्साह होना चाहिये, जैसा कि परमेश्वरकी आज्ञा पालनेमें हो ।

× × ×

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबके साथ निःस्वार्थ प्रेम करे ।

स्वार्थ छोड़कर प्रेम करनेवालेका दर्जा भगवान्‌के बराबर है; क्योंकि हेतुरहित प्रेम करनेवाले या तो भगवान् हैं या उनका कोई प्रेमी भक्त।

× × ×

स्वार्थ छोड़कर दूसरेका हित करनेसे आत्मा शुद्ध हो जाता है।

× × ×

कामदोषसे जो बच जाता है, उसको मैं शूरवीर समझता हूँ। कामदोषसे तंग होकर ही सूरदासजीने अपनी आँखें फोड़ ली थीं। इसलिये पुरुषको स्त्रियोंकी ओर देखना ही नहीं चाहिये। किसी समय आदतके कारण दीख जाय तो उसे पाप समझकर उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और आगेके लिये दृष्टि न जाय—इसकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये एवं उस स्त्रीको माता-बहिनके समान समझना चाहिये।

× × ×

बहुत-से भाई अपनेको भक्त मानते हैं, लेकिन जबतक भगवान्‌की मुहर (छाप) नहीं लग जाती, तबतक कोई भी भक्त नहीं हो सकता। भगवान्‌की मुहर क्या है ? भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३ वें श्लोकसे १९ वेंतक जो भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं, वही भगवान्‌की मुहर है।

× × ×

जैसे हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सारा संसार हरे रंगका दीखने लग जाता है, वैसे ही बुद्धिपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये। बुद्धिके ऊपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेनेपर सारा संसार

श्रीहरिके रूपमें ही दिखायी देने लगता है ।

× × ×

जहाँ हमारा मन जाय, जहाँ हमारी दृष्टि जाय, वहीं भगवान्‌के स्वरूपका भाव करना चाहिये । यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ वस्तुमात्र है, वह भगवान्‌का रूप है और जो कुछ चेष्टामात्र (हलचल) है, वह भगवान्‌की लीला है अर्थात् एक भगवान् ही अनेक रूप धारण करके भाँति-भाँतिकी लीला कर रहे हैं । ऐसा समझकर हर समय भगवान्‌की ही स्मृतिमें मस्त रहे ।

× × ×

एक बात बड़े महत्त्वकी है । संसारका व्यर्थ चिन्तन सर्वथा हटा देना चाहिये । जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे भगवान्‌में लगाना चाहिये । एक भगवान्‌के सिवा किसीका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये । एक भगवान्-ही-भगवान् है—ऐसी वृत्ति बनानी चाहिये ।

× × ×

आप एकान्तमें बैठकर जप-ध्यान-साधन करते हैं—उसमें आपका मन नहीं लगता, इसका कारण है—आपकी बुरी आदत । आपको चाहिये कि जहाँ मन जाय, वहींसे जबरन् उसे हटाकर परमात्मामें लगावें । इस प्रकारकी साधारण चालसे जो सैकड़ों वर्षोंमें लाभ होता है, वह उक्त प्रकारसे जी-तोड़ परिश्रम करनेपर बहुत थोड़े समयमें ही हो सकता है ।

× × ×

अभ्यासके साथ वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है । वैराग्य होनेसे ही मन वशमें हो सकता है । वैराग्य होता है—वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करनेसे । जैसे चोरका सङ्ग करनेसे चोरीके भाव आते हैं और

व्यभिचारीके सङ्गसे व्यभिचारके भाव आते हैं, उसी प्रकार विरक्त पुरुषोंका सङ्ग करनेसे वैराग्य अपने-आप होने लगता है ।

× × ×

वैराग्यमें ही आनन्द है, वैराग्यके सामने त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ है । वैराग्यसे भी अधिक आनन्द है उपरतिमें और उपरतिसे भी अधिक आनन्द है परमात्माके ध्यानमें । संसारमें प्रीति न होना वैराग्य है और संसारकी ओर वृत्ति ही न जाना उपरति है ।

× × ×

भगवान्‌के भजन-ध्यानमें मन न लगे, तब भी हठपूर्वक भजन-ध्यान करते रहना चाहिये । आगे जाकर आप ही मन लग सकता है ।

× × ×

भगवान्‌से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि प्रभो ! अपना नित्य सुख थोड़ा-सा भी दे दीजिये, किंतु यह संसारका लंबा-चौड़ा सुख भी किसी कामका नहीं ।

× × ×

मनुष्यको अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें भगवान्‌का भजन-ध्यान भरना चाहिये । जो मनुष्य भगवान्‌का भजन-ध्यान करता है, उसको स्वयं भगवान् मदद देते हैं । इसलिये निराश नहीं होना चाहिये; बल्कि यह विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ है, अतः हमारी विजयमें कोई शङ्का नहीं; ईश्वर और महात्माकी कृपाके बलपर ऐसा कोई भी काम नहीं, जो हम न कर सकें । हमें बड़ा अच्छा मौका मिला है । इसे पाकर अपना काम बना ही लेना चाहिये, निराश नहीं होना चाहिये ।

× × ×

संसारमें लोग अपनी निन्दा करें, अपमान करें तो उससे अपनेको खुश होना चाहिये और यदि लोग अपनी प्रशंसा करें, सम्मान करें, तो उससे लज्जित होना चाहिये ।

× × ×

कुसङ्ग कभी न करे । मनुष्य सत्सङ्गसे तर जाता है और कुसङ्गसे डूबता है ।

× × ×

सत्सङ्गमें सुनी हुई बातोंको एकान्तमें बैठकर मनन करे और उनको काममें लानेकी पूरी चेष्टा करे ।

× × ×

पाप, भोग, आलस्य और प्रमाद—ये चार नरकमें ले जानेवाले हैं । इनका सर्वथा त्याग करे ।

× × ×

यह निश्चय कर ले कि प्राण भले ही चले जायँ पर पाप तो कभी करना ही नहीं है । भारी-से-भारी आपत्ति आ जाय, तब भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये और सदा ईश्वरको याद रखना चाहिये ।

× × ×

मनुष्य जो चिन्ता, भय, शोकसे व्याकुल होता है, इसमें प्रारब्ध हेतु नहीं है । सिवा मूर्खताके इनके होनेका कोई अन्य कारण नहीं । मनुष्य थोड़ा-सा विचार करके इस मूर्खताको हटा दे तो ये सरलतासे मिट सकते हैं ।

× × ×

संसारके विषयोंको विषके समान समझकर इनका त्याग

करना चाहिये; क्योंकि विषसे तो मनुष्य एक जन्ममें ही मरता है, किंतु विषयोंके सुखोपभोगसे तो मरनेका ताँता ही लग जाता है।

× × ×

हरेक काममें स्वार्थ, आराम और अहंकारको दूर रखकर व्यवहार करना चाहिये; फिर आपका व्यवहार उच्चकोटिका हो सकता है।

× × ×

किसी व्यक्तिने अपनी सेवा स्वीकार कर ली तो उनकी अपनेपर बड़ी दया माननी चाहिये।

× × ×

किसी कार्यमें मान-बड़ाई हो, वहाँ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा दूसरोंको देना चाहिये तथा स्वयं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठासे हट जाना चाहिये।

× × ×

असली बात तो यह है कि एक मिनट भी जो भगवान्‌को भूलना है, यह बड़ी भारी खतरेकी चीज है; क्योंकि जिस क्षण भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है, उस क्षण यदि हमारे प्राण चले जायँ तो हमारे लिये बहुत खतरा है; इसलिये बचे हुए जीवनका एक भी क्षण भगवान्‌की स्मृतिके बिना नहीं जाना चाहिये। यदि आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए प्राण निकल गये तो क्या उपाय है, तो इसके लिये आप चिन्ता न करें। जब आपके जाग्रत्-अवस्थामें १८ घंटे निरन्तर भजन होने लगेगा तो उसके बलसे रात्रिमें सोते हुए स्वप्नमें भी आपके प्रायः भजन ही होना सम्भव है।

जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायसे उत्तरोत्तर उन्नतिका दिग्दर्शन

कोई-कोई भाई ऐसा कहते हैं कि 'हम ध्यान करते हैं, नामका जप करते हैं, माला भी अधिक संख्यामें फेरते हैं, किंतु हमें विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता, हमारी स्थिति वैसी-की-वैसी ही दिखायी देती है।' कितने ही भाई कहते हैं—'हम बीस सालसे सत्सङ्ग करते हैं, किंतु विशेष लाभ नहीं देखनेमें आता।' इन लोगोंके कथनपर कुछ विचार करना आवश्यक है। मान लीजिये कि एक आदमी गीताका पाठ करता है, उसे पाठ करते दस वर्ष बीत गये, किंतु उसका कोई सुधार नहीं हुआ; तो, यह तो निश्चय ही है, इसमें गीताका तो कोई दोष है नहीं। तब फिर सुधार क्यों नहीं हो रहा है? जो पुरुष गीताका अभ्यास करता है और उसका सुधार नहीं हो रहा है, उसको यह सोचना चाहिये कि गीतामें तो कोई ऐसी बात है नहीं कि जिससे उसका पाठ करनेपर उल्टी खराबी हो या पाठका अभ्यास करनेसे आगे बढ़नेमें रुकावट पड़े। तो फिर बात क्या है? तब फिर यही निश्चय होता है कि गीताके साधनमें ही कहीं-न-कहीं त्रुटि है। हम सत्सङ्ग करते हैं पर हमारा कोई सुधार नहीं हुआ। जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, वे भी वैसे ही हैं और हम जो सत्सङ्ग करते हैं, वे भी वैसे ही रहे। तो यह समझना चाहिये कि सत्सङ्गसे कोई हानि हो, ऐसी बात तो है ही नहीं

और न सत्सङ्ग आगे बढ़नेसे रोकता ही है। इसी प्रकार भजन-ध्यानके विषयमें भी समझना चाहिये कि भजन-ध्यान करनेसे हानि हो, यह बात तो असम्भव है। तो फिर क्या बात है? बात यह है कि हमारा साधन उच्चकोटिका नहीं है। साधन मूल्यवान् होना चाहिये। जिस प्रकार आप धन कमानेके लिये हृदयसे चेष्टा करते हैं और उस कामको ध्यान देकर बड़ी सावधानीके साथ सुचारुरूपसे करते हैं, इसी प्रकार गीतापाठ, जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधन भी आपको आदरपूर्वक और ध्यान देकर निष्कामभावसे अच्छी प्रकार करने चाहिये। जब आप साधनका आदर नहीं करेंगे, तब साधन भी आपका आदर कैसे करेगा? आदरका क्या अर्थ है? गीतामें हमारी आदरबुद्धि होगी तो हम जहाँ भी बैठेंगे, हम गीताको अपने बैठनेके स्थानसे उच्च आसनपर आदरपूर्वक रक्खेंगे यानी जैसे सिखलोग ग्रन्थसाहबको मानते हैं, उसी प्रकार हम उसका विशेष आदर करेंगे। दूसरी बात यह कि हम उसका पाठ बड़े प्रेमसे—अनुरागसे धीरे-धीरे सम्मान-पूर्वक करेंगे; क्योंकि हमें उसके द्वारा श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करना है। यह नहीं कि बड़ी जल्दीसे समाप्त करनेके लिये डाकगाड़ी-सी छोड़ देंगे। तीसरी बात यह कि हमने आज जो गीताका पाठ किया, वह कौनसे अध्यायके कौनसे श्लोक थे—यह याद रक्खें और उनके अर्थ और भावपर ध्यान दें। किसीने पूछा कि आज किस अध्यायका पाठ किया तो बोले—आज पञ्चमी है तो पाँचवें अध्यायका ही पाठ किया होगा। आपने प्रातःकाल ही पाठ किया, वह भी पूरा याद नहीं कि किस अध्यायका पाठ किया, तो गीताके ऐसे पाठसे विशेष क्या लाभ होगा। आप गीताका पाठ करते हैं, पाठ करते-करते नींद आ

गयी, पुस्तक आपके हाथसे गिर गयी, फिर पुस्तक उठाकर सोचने लगे, किस अध्यायके किस श्लोकका पाठ कर रहे थे ऐसा पाठ करना तो गीताका अनादर करना है और जब आप गीताका यों अनादर करेंगे, तब गीताके अध्ययनसे जो लाभ होना चाहिये, वह आपको कैसे होगा ?

इसी प्रकार आपने सत्सङ्ग किया। किसीने पूछा कि 'आप सत्सङ्गमें गये थे ?' कहा—'हाँ गये थे।' पूछा—'क्या विषय था ?' कहा—'सत्सङ्ग बहुत अच्छा था पर क्या विषय था सो तो याद नहीं है।' 'वाह, आप अभी-अभी सत्सङ्गसे आ रहे हैं फिर याद कैसे नहीं है ?' तो बोले—'हमें कुछ झपकी-सी आ गयी थी।' दूसरे भाईसे पूछा—'क्या आप सत्सङ्गमें गये थे ?' बोले—'सत्सङ्गको तो सभी लोगोंने अच्छा बताया।' 'अजी ! लोगोंने तो अच्छा बतलाया पर आप भी तो थे न ?' कहा—'था तो सही।' फिर पूछा—'तो सत्सङ्गमें किस विषयका विवेचन हुआ ?' बोले—'मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, मैंने ध्यान देकर सुना नहीं।' तीसरे भाईसे पूछा—'आज प्रसङ्ग क्या हुआ ?' बोले—'सुना तो था, किंतु याद नहीं।' सोचिये, जब अभी-अभी सत्सङ्गमें सुनी हुई बात याद ही नहीं रही, तब उसका पालन आप क्या करेंगे। बात यह है कि आपने आदरपूर्वक ध्यान देकर सुना ही नहीं।

इसी प्रकार आप जप करते हैं, आपका मन इधर-उधर चला गया, आप माला फेर रहे हैं, माला हाथसे गिर गयी। कितनी माला फेरी, यह ध्यान नहीं है। तो यह जप आदरपूर्वक नहीं है। माला फेरते समय एक तो भगवान्‌के नामके जपका तार नहीं टूटना

चाहिये। दूसरे, जप करते समय खूब प्रसन्नचित्त रहना चाहिये और समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर बड़ी भारी कृपा है, जो कि उनके नामका जप मेरेद्वारा हो रहा है। जप करते समय उसके अर्थका भी ज्ञान होना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपका भी ध्यान होना चाहिये एवं जप निष्काम प्रेमभावसे करना चाहिये तथा ऐसे श्रद्धा-विश्वासके साथ करना चाहिये कि 'जप करनेसे पापोंका नाश होकर मेरा निश्चय ही कल्याण हो जायगा, इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है।'

इसी प्रकार ध्यानके विषयमें समझना चाहिये। ध्यान करते समय भगवान्‌की लीलाका मनसे स्मरण होना चाहिये तथा भगवान्‌की लीलाके साथ-साथ भगवान्‌के स्वरूप और सौन्दर्य-माधुर्यको देख-देखकर पल-पलमें मुग्ध होना चाहिये। भगवान्‌के चरित्रोंमें भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये। भगवान्‌की जो कुछ लीला है, उसका तत्त्व-रहस्य भी साथ-ही-साथ समझना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान करना बहुत उत्तम है।

जब शास्त्रोंकी बातें महात्माओंसे सुनी जायँ तो सुनते समय इस बातपर अत्यन्त मुग्ध होना चाहिये कि भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है, जो ये बातें हमको सुननेको मिलीं। फिर उन बातोंको समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये कि आजसे हमें यही करना है, यही बात आजसे हमको काममें लानी है। ऐसा करनेपर आपका जीवन शीघ्र ही बदल सकता है।

अब फिर कुछ रहस्यकी बातें बतायी जा रही हैं। चार बातें

सार हैं—(१) भगवान्‌के नामका जप, (२) भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, (३) स्वाध्याय करते समय उसके अर्थ और भावकी ओर दृष्टि तथा (४) सत्सङ्ग। अपने मनसे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इनसे हमारा निश्चय ही सुधार होकर उद्धार होगा।' जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति अवश्य होती है और जल पीनेसे पिपासा अवश्य मिटती है, यह सर्वथा प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार यह भी प्रत्यक्ष है। प्रतिदिन उसे सँभाल लेना चाहिये कि आज सत्सङ्ग करनेके बाद अपनेमें कितना सुधार हुआ यानी कौन-कौन-सी बातें जीवनमें धारण हुईं। आज रामायण पढ़ी तो पढ़नेके बाद यह देख लेना चाहिये कि उसमें कौन-सा प्रसङ्ग था और उससे मुझे क्या शिक्षा मिली और मेरा क्या सुधार हुआ। आज जप किया, ध्यान किया तो जप करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य हो जायगा और सद्गुण-सदाचार अपने-आप ही अवश्य आ जायँगे। भजन-ध्यानसे हममें सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव अवश्य ही होगा। जब सद्गुण-सदाचार आयेंगे, तब उनके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश भी अवश्य हो जायगा। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकारका नाश होता ही है। इसी प्रकार जहाँ सद्गुण हैं, वहाँ दुर्गुण रह ही नहीं सकते। जहाँ ईश्वरकी भक्ति है, वहाँ पाप रह ही नहीं सकते। इस प्रकार समझकर हमें अपने हृदयको रोज सँभालना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य व्यापार करते समय प्रतिदिन यह सँभाल लेता है कि आज कितना माल बिका और उसमें कितना मुनाफा हुआ। वह लोभी आदमी प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करता रहता है। इसी तरह

हमलोगोंको प्रतिदिन अपने साधनकी सँभाल कर लेनी चाहिये कि 'कलकी अपेक्षा आज साधनमें कितनी उन्नति हुई और उन्नति न हुई तो क्यों नहीं हुई, उसका कारण ढूँढ़ना और उसे सावधानीसे दूर करना चाहिये।' इस प्रकार प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करते रहें और यह समझते रहें कि 'ईश्वरका हमारे मस्तकपर हाथ है, उनकी अनन्त कृपा है। देखो, हम किस लायक हैं? यह तो ईश्वरकी अहैतुकी कृपा है जो हमें संसारसे निकालकर वे हमारा उद्धार करना चाहते हैं। जब ईश्वरकी हमपर इतनी दया है, उनका इतना ध्यान है, तब फिर हमारे उद्धारमें क्या शङ्का है।'

किसी गरीब आदमीपर किसी करोड़पति धनी आदमीका हाथ हो तो वह निर्भय हो जाता है। अपने ऊपर तो ईश्वरका हाथ है। फिर बात ही क्या है। इस प्रकार समझकर और ध्यानमें ईश्वरके स्वरूपको देखकर हर समय प्रसन्न होते रहना चाहिये कि उनका रूप और लावण्य अत्यन्त मनोहर और अलौकिक है तथा अपने ऊपर भगवान्‌का अतिशय प्रेम देखकर भी हर समय प्रसन्न होना चाहिये कि भगवान् हमसे कितना प्यार कर रहे हैं।

जो कुछ हो रहा है, यह सब परेच्छा और अनिच्छासे हो रहा है। जो परेच्छासे हो रहा है, उसे भगवान् करवा रहे हैं और जो अनिच्छासे हो रहा है, वह स्वयं भगवान् कर रहे हैं। उसको देख-देखकर हर समय प्रसन्न होना चाहिये, उसमें भगवान्‌की अहैतुकी दयाका अनुभव करना चाहिये—यह समझना चाहिये कि जो कुछ भी हो रहा है, उसमें भगवान्‌की दया ओतप्रोत है। यदि

किसी समय ऐसा प्रतीत हो कि इसमें भगवान्‌की दया नहीं है— कोप है, तो यह समझे कि वह कोप भी है तो भगवान्‌का ही न, अतः उसमें भी उनकी दया ही भरी है। बालकपर माताका कोप होता है तो बालक कोपमें भी माँकी दया ही समझता है; क्योंकि स्नेहमयी माँ कभी बालकका अनिष्ट नहीं करती। माँ कोप करती है तो लड़केपर अनुशासन करनेके लिये करती है, जिससे उसका सुधार हो। अतः जिस प्रकार माँके कोपमें दया भरी रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के कोपमें भी दया भरी है।

परेच्छा उसका नाम है, जो दूसरेकी इच्छासे हो। परेच्छाके उदाहरण देखिये—जैसे कोई भाई किसी नाबालिग लड़केको अपना दत्तक पुत्र बनाकर उसे अपनी सम्पत्तिका स्वामी बना दे तो यह समझना चाहिये कि सम्पत्तिका स्वामी वह लड़का परेच्छासे बना। लड़केने कोई कमाई नहीं की, परिश्रम भी नहीं किया; किंतु जब वह लड़का बालिग होकर अच्छी तरह समझता है, उस समय उसे प्रसन्नता होती है कि मुझपर पिताकी कितनी दया है कि उन्होंने मुझे अपना लड़का बनाकर अपनी पाँच लाखकी सम्पत्तिका स्वत्वाधिकारी बनाया। यह उसे परेच्छासे लाभ मिला। अब परेच्छासे होनेवाली हानिका उदाहरण देखिये—किसी डाकूने हमारे पास रुपये समझकर पीछेसे चार लाठी जमा दी और रुपये छीनकर ले गया तो रुपये भी गये और चोट भी आयी। देखनेमें यह हमारे लिये बहुत ही हानिकी बात हुई। यह हमारी हानि परेच्छासे हुई और पहले बताया हुआ लाभ भी परेच्छासे हुआ। हमें जो परेच्छासे लाभ हुआ, वह पुण्यका फल है और हमारे जो यह चोट लगी तथा

धन गया, यह हमारे पापका फल है। पापका फल दुःख है, पुण्यका फल सुख है। तो यह परेच्छासे पाप और पुण्य दोनोंका फल मिला। यह ईश्वरका विधान है। अतः इन दोनोंमें प्रसन्नता होनी चाहिये।

यदि कहें कि रुपया मिले तो प्रसन्नता होती है पर चोट लगने और धन जानेपर तो दुःख ही होता है; तो मैं यह कहता हूँ कि जो आपको रुपये मिले, उसमें भी भगवान्‌की दया है, पर उससे भी अधिक दया उसमें है जिसको आप अनिष्ट मानते हैं। यह बात सबकी समझमें नहीं आती। परतु गहराईसे समझनेकी बात है। आपको धन मिला, यह किसका फल है? पुण्यका फल है। अच्छा, पुण्यका फल मिल गया, तब उस पुण्यका क्षय हो गया। उतनी पुण्यकी पूँजी कम हो गयी। अतः आप यहाँसे जायँगे तब इतनी पूँजीका नुकसान लेकर ही तो जायँगे। यदि आपने यह भाव समझा कि ईश्वरकी कृपासे धन मिला है तो फिर उससे परमात्माकी प्राप्तिके विषयका ही लाभ उठाना चाहिये। तब तो परमात्माकी आपपर दया हुई। पर जो धन मिला, उस धनको लेकर यदि आप मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, अनाचार, व्यभिचार करते हैं; तथा धनकी वृद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी तथा हिंसा आदि पाप करते हैं तो मैं तो यही समझता हूँ कि उस धनका आपको न मिलना ही अच्छा था। भगवदर्थ लगाकर धनसे आप अपना कल्याण भी कर सकते हैं और कुकर्ममें लगाकर पतन भी।

इसी तरह आपको जो दण्ड मिला, उससे आपके पापका क्षय हो गया, आप पापके भारसे हल्के हो गये और उस दण्ड मिलनेके साथ ही आपके हृदयमें यदि यह भाव आया कि 'मैंने पाप किया था,

उसका भगवान्‌ने आज मुझे यह दण्ड दिया, अतः भविष्यमें मैं पाप नहीं करूँगा । जो पाप नहीं करेगा उसे दण्ड क्यों मिलेगा । पापका फल ही तो दुःख है न ।' तो यह आपको श्रेष्ठ शिक्षा मिली । धन मिलनेसे तो अहंकार, पाप, प्रमाद, अकर्मण्यता और भोग-विलास आदि बढ़ते हैं, किंतु जब धन नष्ट होता है और मार पड़ती है, तब भगवान् याद आते हैं । इसलिये उसमें विशेष दया समझनी चाहिये ।

अब अनिच्छासे होनेवाले हानि-लाभको समझिये । अनिच्छा उसे कहते हैं कि जिसमें आपकी या दूसरे किसीकी भी इच्छा न रही हो । अतः वह भगवान्‌की इच्छा है । इसे यों देखें—जो रोग होता है, वह अनिच्छासे प्राप्त प्रारब्धका फल है । बीमारीके लिये किसीकी इच्छा नहीं होती; फिर भी बीमारी हो गयी तो उसमें ईश्वरकी इच्छा समझे, या अनिच्छा-प्रारब्धका भोग समझे । इसी प्रकार और कोई स्वाभाविक घटना हो जाती है; जैसे हमारा मकान जल गया, पेड़की डाल अकस्मात् टूट पड़ी और लड़का मर गया तो यह अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है । यह पापका फल है । इसी तरह अनिच्छासे पुण्यका फल प्राप्त होता है; जैसे जमीनके, घरके या चीजोंके दाम बढ़ गये अथवा कहीं गड़ा हुआ धन मिल गया तो इसमें दूसरे किसीकी इच्छा नहीं है । ईश्वरकी इच्छासे अपने-आप ही पुण्यका फल प्राप्त हो गया । सुख पुण्यका फल है और दुःख पापका फल है ।

कुछ पुण्य-पापोंका फल स्वेच्छासे प्राप्त होता है, उनको देखिये । हम स्वेच्छासे व्यापार करते हैं, उसमें मुनाफा भी होता है, नुकसान

भी। मुनाफा पुण्यका फल है और नुकसान पापका। परेच्छा, अनिच्छा, स्वेच्छा—इन तीन प्रकारकी इच्छाओंसे प्रारब्ध कर्मोंका भोग होता है। स्वेच्छापूर्वक हम जो काम करते हैं, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करना चाहिये। यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे भाग्यमें जितना मिलना है, उतना ही धन हमें मिलेगा, अधिक नहीं मिलेगा। भगवान्‌के विधानसे अधिक मिल नहीं सकता। हम पाप नहीं करेंगे तो भी भगवान् छप्पर तोड़कर हमें दे जायँगे। इसलिये हमें झूठ-कपट-चोरी आदि पाप कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमारे भाग्यमें जो होगा वह कहीं नहीं जायगा। अतः भगवान्‌पर और प्रारब्धपर विश्वास करना चाहिये। जिसको ईश्वरपर और भाग्यपर विश्वास होता है, वह कभी झूठ नहीं बोलता। रुपयोंके लिये क्या, प्राणके लिये भी झूठ नहीं बोलता। आप लाभके समय यानी अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो लाभ होता है उसमें ईश्वरकी दया समझते हैं सो तो ठीक है, वह भी दया है। किंतु अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो हानि प्रतीत होती है, उसमें ईश्वरकी विशेष दया समझनी चाहिये।

परमेश्वरने हमको मनुष्यका शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि केवल आत्माके कल्याणके लिये ही दिये हैं। यदि हम उनका उपयोग ठीक नहीं करते हैं या उसके विपरीत करते हैं तो हम अपने आपको धोखा देते हैं। अर्थात् जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर और धनादि पदार्थ आपको दिये गये हैं, उनको उसी काममें लगाना चाहिये। नहीं लगाते हैं तो आप अपनेको धोखा देते हैं। एक भाई आपको दो हजार रुपये इसलिये दे गया कि इन रुपयोंसे

कपड़ा खरीदकर आप साधुओंको बाँट दें। आपने उन रुपयोंसे साधुओंको कपड़ा तो नहीं बाँटा, किंतु वे रुपये आपने अपनी लड़की, दामाद या भानजेको दे दिये तो आपने यह उस धनीको धोखा दिया। साधुओंकी सेवामें न लगाकर गायोंकी सेवामें लगा दिया, तब भी आपने एक प्रकारसे अनुचित किया। क्यों अनुचित किया? इसलिये कि वे तो कह गये थे कि साधुओंकी सेवामें लगाओ और आपने पशुओंकी सेवामें लगा दिया तो यह भी ठीक नहीं किया और बेटी-दामादके स्वार्थमें रुपये लगा दिये, तब तो बड़ा भारी अन्याय किया। इसी प्रकार भगवान्‌ने जो हमें धन दिया, चीजें दीं, अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भक्तिके लिये; उन्हें उस काममें न लगाकर ऐश-आराम, भोगमें लगाते हैं तो हम चोरी करते हैं। देवतालोग हमलोगोंको वर्षाके द्वारा जल-अन्न आदि देते हैं, उन्हें देवताओंको दिये बिना अर्थात् उनकी पूजा, यज्ञ, होम आदि किये बिना हम ऐश-आरामादि भोगोंमें लगाते हैं, तो हम चोर हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः। (३। १२)—'देवताओंका दिया हुआ देवताओंको बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर है।' माता-पिता पुत्रके लिये बहुत-सा धन छोड़कर मर गये; इस उद्देश्यसे कि यह मरनेके बाद हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण करेगा, किंतु जो नालायक लड़का माता-पिताके मरनेके बाद उनका श्राद्ध-तर्पण नहीं करता है, उसे उनकी आत्मा दुराशिष देती है कि हम इतना धन छोड़कर आये, किंतु यह नालायक सौ रुपयेमें एक रुपया भी हमारे काममें नहीं लगाता। यह माता-पिताकी चोरी है। उनके उद्देश्यके अनुकूल काममें धन न लगाना ही चोरी है। वे तो

लाचार हैं, अब कर ही क्या सकते हैं ? तुम्हारी इच्छा है, तुम जो चाहो, करो; किंतु उनकी इच्छाके विपरीत करना विश्वासघात है। कोई हमारे पास गहना रख जाय, फिर वह आवे और हम उसे न दें तो यह विश्वासघात है। इसी प्रकार माता-पिताका हक यदि हम नहीं देते तथा देवताओंको उनका हक नहीं देते तो हम विश्वासघात करते हैं।

जिस प्रकार हम माता-पिताका दिया हुआ माता-पिताको बिना दिये, बिना श्राद्ध-तर्पण किये भोगते हैं तो हम माता-पिताके चोर हैं; इसी प्रकार भगवान्‌के दिये हुए पदार्थोंको भगवान्‌के लिये भगवान्‌की भक्ति आदि साधनोंमें नहीं लगाते हैं तो हम भगवान्‌के चोर हैं। हमें मनुष्य-शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी वर्तमानमें प्राप्त है, उसको भगवान्‌के काममें लगाना चाहिये अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही हमें सब काम करने चाहिये। अतएव जो कुछ करें, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करें और भगवान्‌के विधानके अनुसार जो कुछ सुख-दुःख, लाभ-हानि आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्न हों। माँ हाथसे मारती है तो भी समझदार लड़का यही समझता है कि 'इसमें माँकी कृपा है, मेरा स्वभाव सुधारनेके लिये मुझे मारती है।' इसी प्रकार भगवान् कभी मारें भी तो भक्तको यही समझना चाहिये कि भगवान्‌की कृपा है, भगवान् हमारे सुधारके लिये ऐसा करते हैं। मारका मतलब है कि जिसे हम अनिष्ट समझते हैं, वैसा फल मिलना। जैसे लड़का मर गया, धन चला गया, चोरी हो गयी; इसी प्रकार अन्य जो हानि होती है, वह भगवान्‌के हाथकी मार है।

इसमें भगवान्‌की विशेष दया भरी हुई है। यह रहस्य हमारी समझमें आ जाय तो फिर हमारे लिये सर्वदा सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो सभीको आनन्द होता है, किंतु प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी हर समय भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये। जैसे छोटा बच्चा माँपर निर्भर रहता है, किसी छः महीनेके लड़केको उठाकर माँ गङ्गामें फेंक आवे तो वह क्या कर सकता है, वह बिल्कुल माँपर निर्भर है, माँ मारे, चाहे पुचकारे; इसी प्रकार हम अपनेको एकमात्र भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् एक उन्हींपर निर्भर हो जायँ कि भगवान् हमें मारें चाहे तारें, हमारा सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है। जब दयालु माँ भी अपने बच्चेका कभी कोई अनिष्ट नहीं कर सकती, तब परमदयालु भगवान् क्या कभी कर सकते हैं। जब कभी बच्चेको फोड़ा या व्रण हो जाता है, तब माँ डाक्टरको बुलाकर चिरा देती है। लड़का रोता है, पर माँ उसके रोनेकी परवा न करके बलात् चिरा देती है; क्योंकि माँ उसे भीषण व्रणके विषसे मुक्त करके सर्वथा नीरोग तथा सुखी देखना चाहती है। इसी प्रकार भगवान् भी ह[illegible] हितके लिये ही, हम जिसे दुःख समझते हैं, उसे दे रहे हैं। उस दुःखमें भी हमको विश्वासपूर्वक खूब आनन्द मानना चाहिये अर्थात् वह बात हमारी समझमें नहीं भी आवे तो भी इतना विश्वास अवश्य कर लें कि जो कुछ भी भगवान्‌की मर्जीसे हो रहा है, उसमें आनन्द-ही-आनन्द है।

एक बात तो पहले कही गयी थी कि हमारे द्वारा जो भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय होता है, उससे हमको अवश्य विशेष लाभ

होता है अर्थात् उससे निश्चय ही सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होती है। सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य ही होता है। प्रतिदिन अपने हृदयमें उन्नतिको देखते रहना चाहिये। इस प्रकार देखनेसे वह प्रत्यक्ष दीख सकती है और उससे उत्साह बढ़ सकता है। जैसे व्यापार करनेवालेके प्रतिदिन रुपये पैदा हों, आज सौ बढ़े, कल दो सौ, परसों तीन सौ बढ़े तो यह देखकर उसे नित्य नयी-नयी प्रसन्नता होती है, दिनों-दिन उत्साह बढ़ता जाता है; इसी प्रकार यह जो परमात्माकी प्राप्तिके विषयका व्यापार है, इसको दिन-प्रति-दिन देखते रहेंगे तो उत्तरोत्तर प्रसन्नता बढ़ती जायगी। इस तरह आपको दिन-प्रति-दिन उन्नतिका अनुभव करना चाहिये। दिनमें भी प्रतिक्षण उन्नतिका अनुभव करे। पहले क्षणमें जो कुछ करे, उसके अगले क्षणमें साधन तेज होना चाहिये। कम क्यों हो? साधन कमजोर हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे भविष्यमें ऐसी भूल न होने पावे। जब भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, उनकी अपार दया है, तब फिर हमारी तो उत्तरोत्तर उन्नति अवश्य ही होनी चाहिये और फिर उस उन्नतिके फलको भी देखते रहना चाहिये। वह फल यह कि दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश और सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि। इस प्रकार प्रतिक्षण देखनेपर आपको प्रत्यक्ष ही लाभ दिखायी दे सकता है।

दूसरी बात यह कि सुख-दुःखकी प्राप्तिमें तथा लाभ-हानिकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझनी चाहिये। जो भी कुछ घटना हो रही है, उस सबमें ईश्वरकी दया ही भरी है अर्थात् उस सबमें दयाका

दर्शन करना चाहिये। भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जानेपर, उनके शरण हो जानेपर मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि भाव अपने-आप आ जाते हैं। यह समझ ले कि 'मैं भगवान्‌के शरण हूँ, मुझे किस बातकी चिन्ता है, मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' जिस प्रबल पराक्रमी न्यायकारी तथा दयापरायण किसी राजाके राज्यमें कोई मनुष्य राजाकी शरण ले लेता है, राजापर ही निर्भर हो जाता है और राजा उसको आश्रय दे देता है तो फिर वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। उसके मनमें यह भाव होता है कि राजाकी मुझपर विशेष दया है, मुझे इस राजाके राज्यमें क्या भय है ? इसी प्रकार भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला भी निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

जब नचिकेता यमराजके पास गया और दो वर प्राप्त कर चुका, तब यमराजने कहा—'तुमने दो वर तो माँग लिये, अब तीसरा वर अपने इच्छानुसार और माँग लो।' उसने कहा—'मैं यही वर माँगता हूँ कि मरनेके बाद आत्मा है या नहीं, यह बतलाइये।' यमराज बोले—'इस बातको छोड़कर और कोई वर माँग लो; क्योंकि यह देवताओंके लिये भी दुर्विज्ञेय है। तुम इच्छानुसार सदाके लिये जीवन माँग लो अथवा इन रथ और बाजोंसहित स्त्रियोंको ले जाओ या और कोई स्वर्गके भोग-पदार्थ ले जाओ जो पृथ्वीपर नहीं हैं।' इसके उत्तरमें नचिकेताने कहा—'आप ये वाहन, नाच-गान तथा भोग आदि अपने ही पास रक्खें। मेरा वर तो वही है कि जिससे आत्माका ज्ञान हो जाय। आपने जो यह कहा कि सदाके लिये जीवन माँग लो सो जबतक आपका शासन है, तबतक मुझे मृत्युका भय ही क्या है!'

इसी प्रकार जब यह समझ लिया कि भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, तब फिर भय ही किस बातका है। यमराजकी कृपा होनेपर भी कोई भय नहीं है तो फिर भगवान्‌की कृपा हो जाय तब तो बात ही क्या है। वे तो यमराजके भी यमराज हैं, मृत्युके भी मृत्यु और कालके भी काल हैं। फिर हमें भय किस बातका ? इस प्रकार हम अपनेको भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। जैसे बिल्लीका बच्चा बिल्लीपर ही निर्भर है, बिल्ली उसे इच्छानुसार मुँहमें लिये फिरती है, उसी मुखमें वह चूहेको पकड़ती है, उसीमें अपने बच्चेको; वही दाँत, वही मुँह है; पर अपने बच्चेको कितने प्रेमसे पकड़ती है, जरा भी कष्ट नहीं देती; वैसे ही हम भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। फिर हमें भय ही किस बातका है। यह सोचकर हमें भगवान्‌पर निर्भर हो जाना चाहिये, जैसे भक्त प्रह्लाद भगवान्‌पर निर्भर थे। हिरण्यकशिपु जो कुछ भी अत्याचार करता था, प्रह्लादको किसी बातकी चिन्ता नहीं रहती थी, वह भगवान्‌पर ही निर्भर था। भगवान् जो कुछ इच्छा हो, करें, किंतु क्या कोई उसका बाल भी बाँका कर सका ? नहीं कर सका। कहा भी है—

जाको राखे साँइयाँ, मार सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

मनुष्यकी तो बात ही क्या, सारा संसार भी उसका वैरी हो जाय तब भी कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। अतः यह समझना चाहिये कि जब हम भगवान्‌पर निर्भर हैं, तब हमें भय किस बातका है। अतएव हमें भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये।

मैं आपको फिर सावधान करके यह कहना चाहता हूँ। जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायके समय एक तो यह निश्चय रखना चाहिये कि इनसे हमें अवश्य लाभ होगा तथा उसकी ओर हर समय देखते रहना चाहिये कि हमें लाभ हो रहा है न। लाभको बराबर होते हुए देखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इससे सद्गुण-सदाचार आनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचार भाग जाते हैं न। साथ ही ईश्वरकी दया, ईश्वरका प्रेम, ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये तथा ईश्वरके स्वरूपको देख-देखकर और ईश्वरकी दया और प्रेमको देख-देखकर हर समय हँसते रहना चाहिये, प्रमुदित होते रहना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे आपको प्रत्यक्ष लाभ हो सकता है। यह आप करके देख लें, यह आजमाइश की हुई बात है।

इसके सिवा और भी एक रहस्यकी बात बतायी जाती है। आप ऐसी धारणा करें कि मानो भगवान् आकाशमें विराजमान हो रहे हैं और हम मनसे उनका दर्शन कर रहे हैं। भगवान् गुणोंके सागर हैं और बादल जैसे जलकी वर्षा करता है तथा चन्द्रमा जैसे अमृतकी वर्षा करता है, इसी प्रकार भगवान् आकाशमें स्थित होकर अपने गुणोंकी वर्षा कर रहे हैं। दया, क्षमा, शान्ति, आनन्द, समता, प्रेम, ज्ञान, वैराग्यकी अनवरत हमपर वर्षा हो रही है। जलकी जो वर्षा होती है, उसका तो आकार होता है, किंतु यह निराकार है। जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंसे जो अमृतकी वर्षा होती है, वह निराकार है, जैसे सूर्यका धूप निराकार है, सूर्यके धूपसे शीतकालमें धूपमें बैठनेसे शीतका निवारण हो जाता है; इसी प्रकार भगवान्के प्रभाव

और गुणोंके समूहसे दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश हो जाता है। भगवान् हमलोगोंपर अपने गुणोंका प्रभाव डाल रहे हैं, यह समझकर हर समय हँसता रहे, प्रसन्न होता रहे। हर समय जो प्रसन्नता और आनन्द है, यह सब भगवान्‌से ही है। भगवान् हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें, शरीरके रोम-रोममें सब जगह शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता, ज्ञान, चेतनता उत्तरोत्तर खूब बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार हम मनमें धारणा करें और मनसे परमात्माका ध्यान करें। परमात्माके ध्यानसे हमको प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है, उसका हम अनुभव करें तो हमें प्रत्यक्ष लाभ प्रतीत हो सकता है।

इससे भी बढ़कर एक बात और है—जैसे कोई नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है तो उसे यह नाना प्रकारका रंग-विरंगा संसार हरा-ही-हरा दीखने लग जाता है, यह चश्मा तो चढ़ता है नेत्रोंपर, ऐसे ही भगवद्भावका चश्मा चढ़ाना चाहिये बुद्धिपर। जैसे आँखोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ानेसे सारा संसार हरा-ही-हरा दीखता है, उसी प्रकार बुद्धिपर हरिके रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सर्वत्र हरि-ही-हरि दीख सकते हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

हम जो दृश्यमात्र पदार्थोंको संसारके रूपमें देख रहे हैं, उसे भगवान्‌के रूपमें देखने लगें तो यह संसार हमको भगवान्‌के रूपमें ही दीख सकता है तथा चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझ लेनेपर वह सब चेष्टामात्र भगवान्‌की लीलाके रूपमें दीख सकती है। फिर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो जो कुछ चेष्टा हो रही है, वह साक्षात् भगवान्‌की लीला हो रही है और वह लीला स्वयं भगवान् नाना रूप धारण करके कर रहे हैं। ऐसा समझ लेनेपर हमें हर समय प्रसन्नताका अनुभव हो सकता है; क्योंकि ये जितने भी मनुष्य हैं, सब भगवान्‌के परिकर हैं यानी भगवान्‌के साथ आये हुए हैं। भगवान् ही इनमें छिपकर क्रीडा कर रहे हैं। हम भी इनमें शामिल हैं। हम सब मिलकर ही भगवान्‌के साथ क्रीडा कर रहे हैं। भगवान्‌की लीला हो रही है, ऐसा भाव हम धारण करें। जिस प्रकार गोपियोंको भगवान्‌के साथ गाने-बजाने और नाचनेमें प्रसन्नता होती थी, वैसी प्रसन्नता हमें भी हो सकती है। फिर चिन्ता, शोक, भय हमारे पास भी नहीं आ सकते। ऐसा आप अभ्यास करके देख लें। आपको इसमें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिल सकता है, प्रत्यक्ष आपकी उन्नति हो सकती है। जैसे दूधमें उफान आता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष उन्नति देखनेमें आ सकती है। दूधके उफानमें तो पोल है, ऊपर-ऊपर तो उफान है, भीतरमें कुछ नहीं, थोड़ी देरमें दूधका उफान आकर दूध भी समाप्त हो जाता है; पर यह तो इस प्रकारकी उन्नति है कि वास्तवमें भीतरसे ठोस है, नित्य है और उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जिससे प्रत्यक्ष जीवन बदल जाता है।

नामका माहात्म्य

श्रीभगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनकी महिमा सारे संसारमें विख्यात है। कोई किसी भी सिद्धान्तको माननेवाला क्यों न हो, भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनको तो सभी लोग मानते हैं। हाँ, यह भेद रहता है कि किसीकी किसी नाममें श्रद्धा-प्रीति होती है तो किसीकी किसी नाममें। किंतु गम्भीरतासे विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि वास्तवमें सभी नाम उस परमात्माके हैं। इसलिये भगवद्दृष्टिसे कोई चाहे किसी भी नामकी उपासना करे, वह करता है भगवान्‌की ही उपासना। जैसे जलके बहुत-से नाम हैं, कोई उसे अप् कहते हैं, कोई नीर, जल या पानी, कोई आब और कोई वाटर (Water) कहते हैं; किंतु इन सभीका लक्ष्य एक जल ही है; इसी प्रकार भगवान्‌के ॐ, हरि, तत्, सत्, राम, कृष्ण, केशव, शिव, नारायण, वासुदेव, अल्लाह, खुदा, गॉड (God) आदि-आदि अनेक नाम हैं; परंतु उन सबका लक्ष्यार्थ एक ही है। हिंदू, मुसल्मान और ईसाइयोंके परमात्मा अलग-अलग नहीं हैं। मुसल्मान भाई अल्लाह-खुदाके नामसे जिसका जप करते हैं, वह भी सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही है। ईसाई भाई गॉड नामसे जिसकी उपासना करते हैं, उनकी वह उपासना भी भगवान्‌की ही उपासना है। आर्यसमाजी और जैनी भाई जो 'ॐ' का जप करते हैं, वह भी भगवान्‌के नामका ही जप है। श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंमें भी 'ॐ' की महिमा विशेषरूपसे गायी गयी है। श्रीमाण्डूक्योपनिषद्‌के प्रथम मन्त्रमें बतलाया है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।

'ॐ' इस प्रकारका यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है, यह सम्पूर्ण जगत् उसीका उपव्याख्यान अर्थात् उसीकी निकटतम महिमाका लक्ष्य करानेवाला है। भूत, वर्तमान और भविष्यत्—यह सब-का-सब जगत् ॐकार ही है तथा जो उपर्युक्त तीनों कालोंसे अतीत दूसरा कोई तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है।'

श्रीकठोपनिषद्में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(१। २। १६)

'यह ॐकार अक्षर ही सगुण ब्रह्म है, यह अक्षर ही निर्गुण परम ब्रह्म है, इस ॐकाररूप अक्षरको ही जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है, उसको वही मिल जाती है।'

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

'यही भजने योग्य अत्युत्तम आलम्बन है। यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

श्रीप्रश्नोपनिषद्में आता है—

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म

यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।

'शिबिपुत्र सत्यकामके पूछनेपर उससे उन पिप्पलाद मुनिने कहा—हे सत्यकाम ! निश्चय ही यह जो ॐकार है, वही परब्रह्म और अपर ब्रह्म भी है । इसलिये इस प्रकारका ज्ञान रखनेवाला मनुष्य इस एक ही अवलम्बसे अर्थात् प्रणवमात्रके स्मरणसे अपर और पर ब्रह्ममेंसे किसी एकका (अपनी श्रद्धाके अनुसार) अनुसरण करता है ।'

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।

'जो तीन मात्राओंवाले ॐकाररूप इस अक्षरके द्वारा ही इस परम पुरुषका निरन्तर ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्यलोकमें जाता है तथा जिस प्रकार सर्प केंचुलीसे अलग हो जाता है, ठीक उसी तरह वह पापोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है । इसके बाद वह सामवेदकी श्रुतियोंद्वारा ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है, वह इस जीव-समुदायरूप पर-तत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ अन्तर्यामी परम पुरुष परमात्माको साक्षात् कर लेता है ।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(८ । १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मके नामका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग करता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।'

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
(१७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
(१७। २४)

'इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।'

महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनके प्रथम पादमें बतलाया है कि ईश्वर-प्रणिधानसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोधरूप समाधि हो जाती है। तदनन्तर, ईश्वरका स्वरूप बतलाकर उसका नाम 'प्रणव' बतलाया है तथा प्रणवके जप और अर्थकी भावनासे सारे विघ्नोंका नाश और आत्माका साक्षात्कार होना बतलाया है। श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (१। २३)

'ईश्वरकी शरणागति यानी भक्तिसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि

शीघ्र हो सकती है।'

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
(१ । २४)

'जो क्लेश[1], कर्म[2], विपाक[3] और आशय[4]के सम्बन्धसे रहित तथा समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह ईश्वर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (१ । २५)

'उस (ईश्वर) में सर्वज्ञताका कारण (ज्ञान) निरतिशय है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१ । २६)

'वह (ईश्वर सबके) पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है अर्थात् वह कालकी सीमासे सर्वथा अतीत है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (१ । २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१ । २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१ । २९)

---

१. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरण-भय)—ये पाँच 'क्लेश' हैं।

२. पुण्य, पाप, पुण्य-पाप-मिश्रित और पुण्य-पापरहित—ये चार 'कर्म' हैं।

३. कर्मोंके फलका नाम 'विपाक' है।

४. कर्मोंके संस्कारोंका नाम 'आशय' है।

'इस साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है।'

गोस्वामी तुलसीदासजीके द्वारा रचित श्रीरामचरितमानसमें श्रीराम-नामकी महिमा प्रसिद्ध ही है, क्योंकि श्रीतुलसीदासजी श्रीरामके उपासक थे। एवं श्रीसूरदासजी श्रीकृष्णनामके भक्त थे। इसी प्रकार भक्त ध्रुवजी भगवान् विष्णुके भक्त थे। ध्रुवजीके वन जाते समय श्रीनारदजीने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रके जप-ध्यानका आदेश दिया था और उसीके अनुसार उन्होंने मधुवनमें जाकर उपासना की थी। श्रीनारदजीने कहा—

जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।

...

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

(श्रीमद्भा० ४।८।५३)

'राजकुमार! जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना चाहिये, वह तुम्हें बतलाता हूँ, सुन। वह मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम्।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥

(श्रीमद्भा० ४।८।७१)

'ध्रुवजीने मधुवनमें पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया और उस रात पवित्रतापूर्वक उपवास करके श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकाग्र-चित्तसे परम पुरुष श्रीवासुदेवकी उपासना आरम्भ कर दी अर्थात्

वासुदेवनामका जप और विष्णुके स्वरूपका ध्यान करना आरम्भ कर दिया ।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनक मुनिने नारदजीसे हरिभक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा ।
चिन्तयेद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः ॥

(पूर्व० प्रथम० ३९ । ७)

'जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे प्रतिदिन बारंबार नमस्कार है ।'

श्रीभगवन्नाम-कीर्तनकी महिमा बतलाते हुए श्रीसनकजी फिर भी कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय ।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान्बाधते कलिः ॥

(नारद० पूर्व० ४१ । १००)

'जो लोग प्रतिदिन 'हरे ! केशव ! गोविन्द ! वासुदेव ! जगन्मय !' इस प्रकार कीर्तन करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता ।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(नारद० पूर्व० ४१ । ११५)

'भगवान् हरिका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है । कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है ।'

कहाँतक कहें, विश्वमें जितने धर्मके अनुयायी हैं, उन सभी सम्प्रदायवालोंने नामके जप और कीर्तनकी महिमा भूरि-भूरि गायी है। लोग कहा करते हैं कि हम नामका जप करते हैं, किंतु उसका विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता। इसका कारण यही माल्म होता है कि वे नाम तो जपते हैं, परंतु भावपूर्वक नहीं जपते। यदि भावपूर्वक नामका जप किया जाय तो तुरंत पूर्ण लाभ होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। नाम-जपके प्रकार नीचे लिखे जाते हैं—

१—नामका जप मनसे करना बहुत उत्तम है; क्योंकि मानसिक जपका यज्ञकी अपेक्षा सहस्रगुना फल होता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनुस्मृति २। ८५)

'विधिपूर्वक अग्निहोत्र आदि क्रियायज्ञकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

मनसे जप करनेका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई 'राम' नामका जप करता है तो उसे उचित है कि मनसे 'रा' और 'म'—इन अक्षरोंका चिन्तन (स्मरण) करे। या जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीको मनसे याद करता है, उसी प्रकार नामको मनसे याद करना भी मानसिक जप है।

२—नामका जप गुप्तरूपसे होना चाहिये। अपनी ओरसे तो किसीके सामने प्रकट करना ही नहीं चाहिये, किंतु यदि अनुमानसे कोई जान जाय तो मनमें लज्जा होनी चाहिये। जैसे स्त्री अपने

पतिके प्रेमको छिपाती है, इसी प्रकार नाम-जपको गुप्त रखना चाहिये। कोई पूछे तो भी लज्जित और मौन हो जाना चाहिये। कोई भी हमारा संकेत ऐसा नहीं होना चाहिये, जिससे दूसरोंपर यह प्रभाव पड़े कि यह भगवान्‌के नामका स्मरण करता है। इस विषयमें एक कहानी है—

एक मनुष्य गुप्त-भावसे राम-नामका जप किया करता था। उसके सभी लड़के भगवान्‌के भक्त थे और भगवान्‌का भजन किया करते थे। वे समझते थे कि हमारे पिताजी भजन नहीं करते हैं। अतः समय-समयपर वे पिताजीसे भगवान्‌का नाम जपनेके लिये विनयपूर्वक प्रार्थना किया करते, किंतु वे मौन हो जाते, कोई उत्तर न देकर हँस देते थे। एक दिन रात्रिके समय जब वे सो रहे थे तो निद्रामें उनके मुखसे 'राम-राम' ऐसे शब्द निकले। यह सुनकर उनके लड़कोंने प्रातःकाल बड़ा उत्सव मनाया और यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म किये। यह देखकर पिताजीने पूछा कि आज कौन-सा पर्व है। पुत्रोंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'बड़े ही हर्षकी बात है कि आज रात्रिमें निद्राके समय आपके मुँहसे 'राम-राम' का उच्चारण हुआ, जो कि जाग्रत्-अवस्थामें भी कभी आपके मुँहसे नहीं सुना गया। इसी बातको लेकर हमलोग आज प्रसन्नतासे हर्षपूर्वक यह उत्सव मना रहे हैं।' यह सुनकर पिताजीको बहुत लज्जा हुई। इसे कहते हैं गुप्तरूपसे जप करना।

३—नामका जप श्रद्धासे करना चाहिये। प्रायः लोग श्रद्धासे नहीं करते। श्रद्धा न होनेके कारण जप करते-करते उनको आलस्य आ जाता है, जिससे कभी-कभी माला हाथसे गिर पड़ती है और

यह भी मालूम नहीं रहता कि कितना जप किया। श्रद्धापूर्वक जप करनेसे ये सब दोष नहीं आते तथा भजन धैर्य, उत्साह, प्रसन्नता और सत्कारपूर्वक होता है।

४—नामका जप प्रेमपूर्वक करना चाहिये। प्रायः लोग जप प्रेमपूर्वक नहीं करते हैं; क्योंकि भजन करते समय उनका मन संसारमें आसक्तिके कारण इधर-उधर संसारकी ओर भाग जाता है। किंतु जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है, उसके भजनका तार नहीं टूटता, उसका मन कभी इधर-उधर नहीं भागता, अपितु निरन्तर भजन होता रहता है। उसे भजन करना नहीं पड़ता, वह अनायास ही होता रहता है। जहाँ भजनके लिये प्रयत्न करना पड़ता है, वहाँ प्रेमकी कमी है। जहाँ सच्चा प्रेम होगा, वहाँ जप स्वतः ही होगा। बल्कि यदि कभी नामका विस्मरण हो जाता है तो वह बहुत ही व्याकुल हो जाता है।

परंतु यह स्थिति तभी होगी, जब भजन किया जायगा। भजन करना नहीं पड़ता, होता है—इसका अर्थ यह नहीं कि भजनका अभ्यास न करे और उसके अपने-आप होनेकी प्रतीक्षा करता रहे तथा अपनेको सर्वथा असमर्थ मान ले। इसका अभिप्राय तो यह है कि प्रेम होनेपर भजन स्वयमेव होता है, परंतु आरम्भमें तो प्रेम होनेके लिये भजन करना ही चाहिये।

५—नामका जप निष्कामभावसे करना चाहिये। प्रायः लोग निष्कामभावसे नहीं करते। कोई कञ्चन-कामिनीके लिये और कोई मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाके लिये तथा कोई अन्य स्वार्थकी कामनासे करते हैं; किंतु जब निष्कामभाव हो जाता है, तब ये सब बातें विषके

तुल्य लगती हैं। भक्त प्रह्लादके विषयमें वर्णन है कि जब भगवान्‌ने प्रकट होकर प्रह्लादसे वर माँगनेके लिये कहा, तब प्रह्लादने उत्तर दिया कि—

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

'जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं। आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया ही है।'

इस प्रकार कोई कामना न रखकर भजन करना ही निष्काम-भावसे भजन करना है।

६—साधनकालके समय भी एकान्त और पवित्र स्थानमें आसनसे बैठकर इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे और मनको भीतरके विषयोंसे रहित करके अपनेको जो प्रिय लगे, उसी नामका अर्थ और भावसहित जप करना चाहिये।

७—रात्रिमें शयनके समय भी भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यके स्मरणपूर्वक उसका निरन्तर जप करते हुए ही शयन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकारसे नामका जप करनेपर मनुष्य भगवान्‌के नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझ जाता है, जिसे समझनेके साथ ही तत्काल भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

अब भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका समझना क्या है, यह बात बतलायी जाती है।

१. भगवान्‌के नामके गुण—जैसे बीजके अंदर वृक्ष है, पर वह दीखता नहीं, वैसे ही भगवान्‌के नामके अंदर भगवान्‌के सारे गुण हैं पर वे दीखते नहीं; किंतु बीजको भूमिमें बोकर पानी डालनेसे वह अङ्कुरित हो जाता है और फिर उसमें शनैः-शनैः स्कन्ध, शाखाएँ, पत्ते, मञ्जरी, फल आदि लग जाते हैं, इस प्रकार वह वृद्धिको प्राप्त होकर पूर्ण रूपसे वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार जो नामका जपरूप बीज है, उसे हृदयरूपी भूमिमें बोकर ध्यानरूपी जलसे सींचनेपर भगवान्‌के क्षमा, दया, समता, संतोष, शान्ति, सत्य, सरलता, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त गुण उस नाम-जापकमें अङ्कुरित होकर विकसित हो जाते हैं, जिससे वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। भगवन्नाममें अपरिमित गुण हैं, उसकी महिमा शेष, महेश, गणेश, दिनेश भी नहीं गा सकते। श्रीतुलसीदासजीने नाम-महिमा कहते हुए यहाँतक कह दिया कि—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

२. भगवान्‌के नामका प्रभाव—भगवन्नामके जपके प्रभावसे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार, आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसन एवं समस्त दुःख और विकारोंका नाश हो जाता है। नाम-जपके प्रभावसे बड़े भारी पापी और नीचका भी उद्धार हो सकता है (देखिये गीता अ० ९ श्लोक ३०-३१) तथा इसके सिवा, भगवान् उसके अनुकूल हो जाते हैं एवं वह भगवान्‌को तत्त्वसे जान जाता है और भगवान्‌को प्राप्त होकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है।

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामका प्रभाव बताया है—

राम भगत हित नर तनु धारी । सहि संकट किए साधु सुखारी ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥
राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ । भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ ॥

३. भगवान्‌के नामका तत्त्व—जिस प्रकार आकाशमें निराकार-रूपसे स्थित जल सूक्ष्म होनेके कारण दीखता नहीं, किंतु वही जल जब बादलके रूपमें आकर बूँदोंके रूपमें बरसता है और फिर वही जल बर्फ या ओलोंके रूपमें बरसता है, तब वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है; उसी प्रकार निर्गुण-निराकाररूपसे स्थित परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण नहीं दीखता, किंतु वही परमात्मा जब सगुणनिराकार-रूपसे प्रकट होकर संसारकी रचना करते हैं और फिर वही सर्वव्यापी परमात्मा महान् प्रकाशमय तेजके पुञ्जरूपमें प्रकट होकर सगुण-साकाररूपमें आते हैं, तब वे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाते हैं। गम्भीरतासे विचार करनेपर तत्त्वसे यही सिद्ध होता है कि आकाशमें जो निराकार-रूपसे अप्रकट जल है और जो बादल, बूँद, बर्फ तथा ओलोंके रूपमें जल है, वह वस्तुतः तात्त्विक दृष्टिसे विचार करके देखा जाय तो एक जलसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं। इसी प्रकार तात्त्विक दृष्टिसे विचारकर देखा जाय तो सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त सभी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, वे सब भगवान्‌से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं। भगवान् और भगवान्‌का नाम एक ही है, उनमें कोई भेद नहीं है। अतः जो भगवान्‌का तत्त्व है, वही भगवान्‌के नामका तत्त्व है—यह समझना ही नामका तत्त्व समझना है।

जो भगवान्‌को अनन्य और निष्कामभावसे भजता है, वह भगवान्‌को तत्त्वतः जानकर उन्हें प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

४. भगवान्‌के नामका रहस्य—जो भगवान्‌के नामके रहस्यको जानता है, वह भगवान्‌के नामकी ओटमें कभी पाप नहीं करता। 'नामका जप करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं—जब नामकी ऐसी महिमा है तो मैं पापसे क्यों डरूँ, भजन करके पापोंका नाश कर दूँगा।' ऐसा समझना नामकी ओटमें पाप करना है। इसी प्रकार नामके जो दस अपराध हैं, उनको नाम-जपका रहस्य जाननेवाला कभी नहीं करता। दस अपराध ये हैं—

गुरोरवज्ञां साधूनां निन्दां भेदं हरे हरौ।
वेदनिन्दां हरेर्नामबलात्पापसमीहनम्॥
अर्थवादं हरेर्नाम्नि पाखण्डं नामसंग्रहे।
अलसे नास्तिके चैव हरिनामोपदेशनम्॥
नामविस्मरणं चापि नाम्न्यनादरमेव च।
संत्यजेद् दूरतो वत्स दोषानेतान्सुदारुणान्॥
(नारदपु० पू० तृ० ८२।२२-२४)

श्रीसनत्कुमारजी बोले—'वत्स नारद! गुरुकी अवहेलना, साधु-

महात्माओंकी निन्दा, भगवान् शिव और विष्णुमें भेदबुद्धि, वेद-निन्दा, भगवन्नामके बलपर पापाचार करना, भगवन्नामकी महिमाको अर्थवाद समझना, नाम लेनेमें पाखण्ड करना, आलसी और नास्तिकको भगवन्नामका उपदेश देना, भगवन्नामको जान-बूझकर भूलना तथा नामका अनादर करना—इन (दस) भयंकर दोषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये ।'

नामका जप करनेसे पापका नाश होता है, न कि वृद्धि । अतः जो व्यक्ति नाम-जपसे पापोंको धो डालनेकी बात सोचकर पाप करता है, वह तो नामकी ओटमें पापोंकी वृद्धि करता है । नाम-जप-माहात्म्यका तो यह रहस्य है कि उसके पहलेके किये हुए पापोंका नाश हो जाता है और नये पाप उससे बनते नहीं । यदि किसी भी कारणसे उससे नये पाप बनते हैं यानी समझ-बूझकर पाप होते हैं तो उसने नाम-जपके रहस्यको नहीं समझा । जो नामजपके रहस्यको समझ लेता है, उससे किसी भी हालतमें पाप नहीं बनते तथा उसके द्वारा नामजप गुप्त और निष्कामभावसे निरन्तर होता है ।

इस प्रकार भगवान्का भजन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा सकामभावसे करनेपर भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है । जैसे द्रौपदीने वनमें दुर्वासा ऋषिकी कोपाग्निसे अपने कुटुम्बको बचानेकी कामनासे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवन्नामकी पुकार लगायी तो भगवान् तुरंत उसके पास आ गये । उस समय द्रौपदीने भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन ।

विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर ।

× × ×

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

(महा० वन० २६३ । ८, ९, १०, १६)

'हे कृष्ण ! हे महाबाहो श्रीकृष्ण ! हे देवकीनन्दन ! हे अविनाशी वासुदेव ! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर ! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो । इस विश्वको बनाना और बिगाड़ना तुम्हारे ही हाथोंका खेल है । प्रभो ! तुम अविनाशी हो । शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल ! तुम्हीं सम्पूर्ण प्रजाके रक्षक परात्पर परमेश्वर हो । पहले भी सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करना उचित है ।'

इस प्रकार सकामभावसे पुकारनेपर भी भगवान् प्रकट हो गये तो फिर निष्कामभावसे भजन करनेपर भगवान्की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ?

अतएव हमलोगोंको भगवान्के नामका जप और कीर्तन श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे मनुष्य भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर परम शान्ति और परम आनन्दरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

अनन्य भक्ति और भरत आदिका प्रेम

भक्तिकी महिमा अतुलनीय है। भक्तिका लक्षण बताते हुए मुनिवर शाण्डिल्यने कहा है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (१ । २) अर्थात् 'ईश्वरे परानुरक्तिः भक्तिः'—ईश्वरमें जो परम अनुराग है, उसका नाम भक्ति है। कोई कहते हैं कि 'भज्' धातुसे भक्ति शब्द बनता है, 'भज् सेवायाम्'—'भज्' धातुका सेवाके अर्थमें प्रयोग होता है, इसलिये भगवान्‌की जो सेवा है, उसका नाम भक्ति है। भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना, भगवान्‌की सेवा-पूजा करना, इसका नाम भक्ति है। कोई कहते हैं कि भक्ति वह है जिसका स्वरूप भक्त प्रह्लादजीने बताया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातोंका कानोंसे श्रवण करना, यह श्रवण-भक्ति है; वाणीसे उनका कथन करना कीर्तन-भक्ति है तथा मनसे मनन करना स्मरण-भक्ति है। भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपकी पादुकाकी सेवा, चरणोंकी

सेवा, चरणामृत लेना, चरणधूलि लेना—यह पादसेवन-भक्ति है। यह पादसेवन-भक्ति मन्दिरोंमें जाकर भी की जा सकती है और घरमें भी कर सकते हैं। घरकी अपेक्षा हृदयरूपी मन्दिरमें या आकाशमें भगवान्‌के स्वरूपकी स्थापना करके मानसिक भावसे भगवान्‌की चरण-सेवा आदि करना और भी उत्तम है। अथवा भगवान्‌को सब जगह व्यापक समझकर या सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबके चरणोंकी सेवा करना सर्वोत्तम पादसेवन है। इसी प्रकार मन्दिरोंमें या घरमें पूजा करनेकी अपेक्षा हृदयरूपी मन्दिरमें भगवान्‌की स्थापना करके पूजा करना या नेत्रोंको बंद करके आकाशमें—भगवान्‌के स्वरूपकी स्थापना करके मनसे भगवान्‌की पूजा करना बहुत ही उत्तम है। उससे भी उत्तम है गीताके अठारहवें अध्यायके ४६ वें श्लोकके आधारपर समस्त ब्रह्माण्डमें भगवान् विराजमान हो रहे हैं—यों समझकर अपने मानसिक भावोंसे या कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा करना, यह अर्चन-भक्ति है। मन्दिरोंमें जाकर भगवान्‌को नमस्कार करना, घरमें भगवान्‌की मूर्तिको नमस्कार करना या भगवान्‌के स्वरूपको मनसे स्थापना करके नमस्कार करना या सारी दुनियाको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको मनसे नमस्कार करना—यह वन्दन-भक्ति है। ये छहों क्रियारूप हैं और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन—ये तीनों भावरूप हैं। भगवान् हमारे स्वामी और हम उनके सेवक—यह दास्यभाव है। प्रभु हमारे मित्र और हम उनके मित्र—यह सख्यभाव है। तथा प्रभुको सर्वत्र समझकर अपना तन, मन, धन—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना—यह आत्मनिवेदनभाव है।

ये जो भक्तिके नौ प्रकार बताये हैं, इनमेंसे एक प्रकारकी भक्ति

भी निष्कामभावसे अच्छी प्रकार की जानेपर कल्याण करनेवाली है, फिर जिसमें भक्तिके नवों प्रकार हों, उसका तो कहना ही क्या है। जैसे प्रह्लादजीमें नौ प्रकारकी भक्ति थी, वैसे ही भरतजीमें भी थी। यह 'श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति' नामक एक लेखके द्वारा बताया गया है।

वस्तुतः ये बहुत ही उत्तम साधन हैं। इन सबका फल है—भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना बहुत उच्चकोटिकी भक्ति है। भक्तिके विषयमें जितनी बातें बतलायी गयीं, ये सभी ठीक हैं। इनमेंसे जिसकी जिसमें श्रद्धा, रुचि और इच्छा हो, उसीको वह कर सकता है और उसीमें उसके लिये विशेष लाभ है। भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका माहात्म्य और स्वरूप बताते हुए गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४ वें और ५५ वें श्लोकोंमें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'परंतु, हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार (चतुर्भुज रूपवाला) मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

रामायणमें श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

'वह मेरा अनन्य भक्त है, जिसकी मति यानी बुद्धि इस सिद्धान्तसे कभी हटती नहीं कि जो कुछ चराचर है, सब मेरे स्वामी भगवान्का ही स्वरूप है और मैं उनका सेवक हूँ ।'

यदि कहा जाय कि इसमें किसका कथन ठीक है तो इसका उत्तर यह है कि सभी ठीक है । जिसको जो अच्छा लगे, वह उसीका अधिकारी है । जिसमें जिसकी श्रद्धा और रुचि आदि हो, वही उसके लिये विशेष लाभप्रद है ।

ये सब बातें संक्षेपसे भक्तिके विषयमें कही गयीं । भक्तिका प्रकरण बहुत बड़ा है । यह तो अत्यन्त संक्षेपसे बताया गया है । वास्तवमें भक्तिके सभी साधनोंका फल भगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होना है । यही असली भक्ति और यही अनन्य शरण है । इसकी कसौटी यह है कि वह फिर भगवान्को भूल नहीं सकता । वास्तवमें भगवान्का वियोग उसके लिये मरणके समान असह्य है । श्रीनारद-भक्ति-सूत्र १९ में कहा है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

'देवर्षि नारदके सिद्धान्तसे तो अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है ।'

यही असली प्रेम है । जैसे लक्ष्मणजीका भगवान्में अनन्य प्रेम

था, अतः वे भगवान्‌के वियोगको सहन नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार भरतजी, शत्रुघ्नजी, सीताजी, हनुमान्‌जीका भी ऐसा ही प्रेम था कि वे भगवान्‌से अलग होना नहीं चाहते थे और न होते थे। कभी अलग रहनेका काम पड़ा है तो परम श्रद्धाके कारण भगवान्‌की आज्ञाको मानकर निरुपाय होकर रहना पड़ा है। लक्ष्मण-जी और सीताजीने तो आज्ञापालनके विषयमें प्रतीकार भी किया है। भगवान्‌ने लक्ष्मणजीसे कहा—'भैया ! तू यहीं रह। यहाँ भरत और शत्रुघ्न नहीं हैं, मैं भी यहाँ नहीं रहता हूँ। ऐसी परिस्थितिमें पिताजी और प्रजाके लिये कोई आधार नहीं है, इसलिये तेरा यहाँ राज्यमें ही रहना उचित है।' इसपर लक्ष्मणजी बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥

'हे नाथ ! आपने ठीक बात कही कि तू यहीं रह; क्योंकि मैं यहाँ ही रहनेलायक हूँ, किंतु मुझे यह अपनी कायरताके कारण ही दुर्गम प्रतीत हो रही है। यदि वास्तवमें मेरा प्रेम होता और उसके कारण मैं यहाँ रहनेमें असमर्थ होता तो आप ऐसा क्यों कहते। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ वियोग हो नहीं सकता। यदि आपके वियोगमें मेरे प्राण चले जाते तो आप मुझे कभी छोड़कर नहीं जाते। आप छोड़कर जायँगे और मैं जीता रहूँगा—यही समझकर आप मुझे छोड़ रहे हैं। वास्तवमें मेरा प्रेम होता, आपके वियोगमें मेरे प्राण न रहने-की सम्भावना होती तो मुझे यहाँ रहनेके लिये आप कभी नहीं कहते। मैं आपके बालकके समान हूँ, आपके प्रेमसे पला हुआ हूँ, मुझे आप अलग न करें।'

भगवान्‌ने सोचा कि वास्तवमें हमारे वियोगमें यह प्राणोंका त्याग कर देगा; इसलिये उन्होंने कहा—'भैया ! माता सुमित्राकी आज्ञा लेकर चले आओ।' इसपर लक्ष्मणजीने जाकर मातासे आज्ञा माँगी। माताने हर्षके साथ आज्ञा दी और कहा—'मैं आज धन्य हूँ, मैं आज पुत्रवती हूँ।'

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥

'वही नारी पुत्रवती है, जिसका पुत्र भगवान्‌का भक्त है। तू भगवान्‌की सेवाके लिये जाता है, अतः मैं धन्य हूँ।' और कहती है—

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

'हे प्यारे ! तेरे ही भाग्य खुले हैं, तेरे ही लिये राम वनमें जाते हैं और दूसरा कोई कारण नहीं है। मन्थरा और कैकेयी आदि-का जो कारण है, वह तो एक निमित्तमात्र है। वास्तवमें रामके वन जानेमें तू ही कारण है। तुझको वहाँ सेवाका अवसर विशेष मिलेगा। बेटा ! मैं आज्ञा देती हूँ। मेरा यही आशीर्वाद है, मेरा यही उपदेश और आदेश है कि तू वनमें जाकर उनकी सेवा कर। सीताको मेरे समान अर्थात् माँके समान और रामको पिता दशरथके समान समझ-कर सेवा करना, जिससे उन्हें वनमें क्लेश न हो। बेटा ! जहाँ राम हैं, वहीं अयोध्या है; जहाँ सूर्य हैं, वहीं दिन है।' इस प्रकार माता सुमित्राने लक्ष्मणजीको उपदेश देकर वन जानेकी आज्ञा दी। तब लक्ष्मणजी हर्षपूर्वक श्रीरामके साथ वनमें चले गये।

यदि कहें कि लक्ष्मणजी बादमें भी दूसरी जगह गये हैं, उस

समय उनके प्राण क्यों नहीं गये तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में परम श्रद्धा होनेके कारण उस समय वे भगवान्‌की आज्ञा मानकर गये हैं, इसलिये कोई दोष नहीं है; किंतु वास्तवमें भगवान्‌ने जब लक्ष्मण-जीका त्याग कर दिया, तब उन्होंने तुरंत अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें कथा आती है कि जब काल भगवान् श्रीरामके पास आये, उस समय उन्होंने भगवान्‌से यह स्वीकार करा लिया था कि 'हमारी बातचीत एकान्तमें होगी। उसके बीचमें कोई नहीं आयेगा और यदि आयेगा तो उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा।' पर उस समय दुर्वासाजीने भगवान् रामके पास जाने-का आग्रह किया, तब लक्ष्मणजी दुर्वासाजीके कोपके भयसे यह विचार करके कि, ये कुटुम्बको भस्म कर डालेंगे, भगवान्‌के पास चले गये। भगवान् श्रीरामने सोचा कि अब क्या किया जाय। भगवान्‌ने वशिष्ठजी आदि समस्त सभासदोंसे पूछा, तब वशिष्ठजीने कहा कि अपनी प्रतिज्ञाका पालन करो, लक्ष्मणका त्याग कर दो। इसपर श्रीरामचन्द्र-जीने लक्ष्मणसे कहा—'सत्पुरुषोंका त्याग वधके ही समान है।' ऐसा कहकर श्रीरामने लक्ष्मणजीका त्याग कर दिया। इसपर लक्ष्मणजीने सरयूके किनारे जाकर अपने प्राणोंको छोड़ दिया। याद रखना चाहिये कि महान् पुरुषके द्वारा जिसका त्याग हो जाता है, वह उसके लिये मरनेसे भी बढ़कर है।

इसी प्रकारकी भक्ति थी श्रीसीताजीकी। भगवान् श्रीरामने वन जाते समय सीताको वनके भयंकर कष्टोंको बतलाकर सास-ससुरकी सेवाके लिये अयोध्यामें रहनेका अनुरोध किया, किंतु सीताने कहा—

'प्रभो ! आपने जो ये वनके बहुत क्लेश बताये, ये आपके वियोगके सामने कुछ भी नहीं हैं। बल्कि—

भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

'हे नाथ ! संसारके भोग रोगके समान हैं, गहने भाररूप हैं और संसार यम-यातनाके समान प्रतीत होता है।'

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

'आप मुझे बार-बार यहाँ रहनेके लिये कहते हैं, इन वचनोंको सुनकर मेरा हृदय नहीं फटता है तो मैं समझती हूँ कि मेरा हृदय वज्रके समान कठोर है। मुझे प्रतीत होता है कि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे और मैं संसारमें जीती रहूँगी, आपके वियोगमें मरूँगी नहीं। यदि आपको यह विश्वास होता कि सीता मेरे वियोगको नहीं सह सकेगी तो आप मेरा कभी त्याग नहीं करते।' इससे महाराज प्रसन्न हो गये और वनमें साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

ध्यान दीजिये, श्रीसीताजीका कैसा आदर्श व्यवहार है। यदि कहें कि सीताजी रावणके यहाँ सालभर रहीं, तब उनके प्राण क्यों नहीं चले गये ? प्रेम था तो श्रीरामके वियोगमें जीवित कैसे रहीं ? तो इस विषयमें श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें लिखा है कि उस समय उनके जीनेका कारण यह था कि वे भगवान्‌का ध्यान कर रही थीं, प्राण मानो कारागारमें बंद हो गये थे। वह ध्यान ही उस कारागारका कपाट था और भगवान्‌के नामका निरन्तर जप चौकीदार (पहरेदार) था। फिर प्राण किधरसे निकलें ? प्राणोंके जानेके लिये कोई रास्ता

ही नहीं रहा। इसपर यदि कोई कहे कि यहाँकी बात तो ठीक है; किंतु वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें लिखा है कि लोकापवादके कारण श्रीरामने सीताजीका त्याग कर दिया था। उस समय वे कैसे जीवित रहीं? इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌में परम श्रद्धा होनेके कारण भगवान्‌की आज्ञा मानकर ही उन्होंने प्राणोंको रक्खा। जैसे परम श्रद्धाके कारण भरतजी श्रीरामके वियोगमें चौदह वर्ष नन्दिग्राममें भगवान्‌की आज्ञा मानकर रहे, इसी प्रकार सीताजी भी भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌के वंशकी रक्षाके लिये वाल्मीकि-आश्रममें रहीं। सीताजीने लक्ष्मणजीसे स्पष्ट कह दिया था कि 'लक्ष्मण! मैं अपने शरीरका त्याग कर देती, पर मैं गर्भवती हूँ। मैं मर जाऊँगी तो श्रीरामचन्द्रजीका वंश नहीं चलेगा। अतएव वंशकी रक्षाके लिये मैं अपने प्राणोंको रक्खूँगी। मेरी ओरसे महाराजको कुशल कहना। पतिकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। मेरे त्यागसे यदि महाराजका लोकापवाद दूर होता है तो मुझे उसीमें संतोष करना चाहिये। स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है। पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना स्त्रीका परम धर्म है।' इस प्रकारके भावको रखकर सीताजीने जीवन बिताया था।

इसी प्रकार भरतजी और शत्रुघ्नजीके विषयमें भी यही समझना चाहिये। भरतजी अयोध्यामें गये तो भगवान्‌की आज्ञा मानकर गये। फिर भी भरतजीने कहा—'चौदह वर्षके आधारके लिये अपनी चरण-पादुका दे दीजिये।' तब भगवान्‌ने चरणपादुका दे दी। उस चरण-पादुकाको सिरपर धारण करके भरतजीने कहा—'चौदह वर्षकी

अवधिके शेष होनेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आप अयोध्यामें न पहुँचेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा ।'

ध्यान देना चाहिये—भरतजीकी कितनी उत्तम श्रद्धा और प्रेम है । यह प्रेमकी उत्तम पराकाष्ठा है । हमलोगोंका भी भगवान्‌में वैसा ही प्रेम होना चाहिये, जैसा कि भरतजी, शत्रुघ्नजी, लक्ष्मणजी और सीताजीका था । हनुमान्‌जी तो सर्वदा भगवान्‌के साथ रहते ही थे । हनुमान्‌जी आदिका दास्यभाव था । सीताजीका माधुर्यभाव था । सभी भाव उत्तम हैं । किसी भी भावसे भगवान्‌की भक्ति करे, अन्तमें वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

श्रीशत्रुघ्नजीके भावको भी श्रीभरतजीके समान ही समझना चाहिये । भरतजीकी कथा जो रामायणमें आती है, उसके साथ-साथ शत्रुघ्नजी तो रहते ही हैं । वाल्मीकीय रामायणमें शत्रुघ्नजीकी कहीं-कहीं अलग भी कथा आयी है । जिस समय लवणासुरके विजयका प्रसङ्ग आया, उस समय भगवान् श्रीरामने कहा—'लवणासुरपर विजय प्राप्त करने कौन जाता है ?' इसपर भरतजी बोले—'लवणको मैं मारूँगा, कृपया मुझे यह काम सौंपा जाय ।' भरतजीके ये वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने कहा—'रघुनन्दन ! मँझले भैया तो अनेकों कार्य कर चुके हैं, नन्दिग्राममें कष्ट भी बहुत उठा चुके हैं । अब इस सेवकके रहते इन्हें और कष्ट न दिया जाय ।' भगवान्‌ने कहा—'बहुत अच्छी बात है । शत्रुघ्न ! तुम जाओ और लवणासुरको मारकर तुम वहीं राज्य करो । मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसके विरोधमें कोई उत्तर न देना ।' शत्रुघ्नजीने जब यह बात सुनी, तब वे बड़े लज्जित

हुए और बोले—'नाथ ! यद्यपि बड़े भाइयोंके रहते छोटेका अभिषेक युक्त नहीं है, तथापि मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन करना है। वास्तवमें मँझले भैया भरतजीके प्रतिज्ञा कर चुकनेपर मुझे कुछ बोलना ही नहीं चाहिये था, पर मेरे मुँहसे 'लवणको मैं मारूँगा' ये अनुचित शब्द निकल गये, इसीसे मेरी यह (आपके वियोगरूप) दुर्गति हो रही है।' फिर दुःखित हृदयसे शत्रुघ्नजी वहाँ गये और लवणासुरको मारकर वहाँका शासन करते रहे। जब भगवान् श्रीराम परम धाम पधारनेको तैयार हुए, तब इस बातको सुनकर शत्रुघ्नजी भगवान्के पास आये और हाथ जोड़कर बोले—'महाराज ! मैं आपके साथ चलनेका दृढ़ निश्चय करके यहाँ आया हूँ, आज इसके विपरीत आप कुछ न कहियेगा; क्योंकि इससे बढ़कर मेरे लिये कोई दूसरा दण्ड न होगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे द्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन हो।'

विचार कीजिये, शत्रुघ्नजीका भगवान् श्रीरामके साथ रहनेका कितना प्रबल आग्रह था। इसी प्रकार अन्य सब भाइयोंका और सीताजीका भी यही आग्रह था कि हम भगवान्के साथ ही रहें। श्रीहनुमान्जीका भी यही भाव था; किंतु महाराजने हनुमान्को संसारका हित करनेके लिये विशेष आज्ञा दे दी कि 'हनुमान् ! तुम यहीं रहना।' जिसका उच्चकोटिका प्रेम होता है, वह अपने प्रेमास्पदसे अलग नहीं रहना चाहता; और प्रेमास्पदसे अलग रहना हो भी कैसे सकता है तथा भगवान्के बिना वह जी भी कैसे सकता है; किंतु प्रेमास्पदकी आज्ञाके पालनके लिये रहना पड़े तो श्रद्धालुके लिये दोष नहीं।

अब पुनः भरतजीकी ओर ध्यान देकर देखिये। जब भगवान्

श्रीरामके अयोध्या लौटनेमें विलम्ब हो रहा है, तब उस समय भरतजी विरहमें व्याकुल होकर मन-ही-मन कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

'प्रभु अपने दासोंके दोषकी ओर नहीं देखते, वे दीनोंके बन्धु हैं, मैं दीन हूँ, वे कोमल हृदयवाले हैं; इसलिये वे अपनी ओर देखेंगे।'

मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

'मेरे मनमें दृढ़ विश्वास है कि मुझे भगवान् अवश्य मिलेंगे और शकुन भी शुभ होते हैं।'

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

'अवधि बीत जाय और भगवान् न पहुँचें तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे। यदि देहमें प्राण रह जायँ तो फिर मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं है।' इस प्रकार मन-ही-मन विचार कर रहे थे और उनकी ऐसी दशा हो गयी कि—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

रामका जो विरह है, यही सागर है, भरतका मन उसमें निमग्न हो गया। उस समय जैसे डूबते हुएके लिये नौका आ जाती है, इसी प्रकार हनुमान्‌जी ब्राह्मणका रूप धारण करके भरतके लिये आ पहुँचे और सूचना दी कि 'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजीसहित पधार रहे हैं।' इस बातको सुनकर भरतजीकी प्रसन्नताकी कोई सीमा नहीं रही। जैसे कोई मछली तड़फती हो और उसे जलमें डाल देनेसे उसके प्राण बच जाते हैं, वैसी ही दशा भरतजीकी हुई। समझना चाहिये कि भरतजीका कितना उच्च कोटिका

प्रेम था कि भगवान्‌के वियोगमें एक क्षण भी उन्हें युगके समान प्रतीत होता था। यह है प्रेमकी पराकाष्ठा।

अब गीतोक्त भक्तिके विषयमें कुछ समझिये। गीतामें जो भक्तिकी बातें आयी हैं, वे सभी बहुत ही उत्तम हैं। उनमेंसे किसी भी अंशको आप धारण कर लें तो आपका कल्याण होना सम्भव है। गीतामें ऐसे बहुत-से श्लोक हैं, उनमेंसे एक भी श्लोक धारण कर लें तो कल्याणमें शङ्का नहीं है।

एक श्लोक ही नहीं, एक चरण भी धारण कर लें, एक पद भी धारण कर लें तो भी कल्याण हो सकता है। जैसे—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इन चार बातोंको धारण करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु इस श्लोकके एक पादको धारण करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; जैसे 'मन्मना भव'— 'मुझमें मनवाला हो।' यह गीतामें जगह-जगह बताया है।

केवल स्मरणमात्रसे परमात्माकी प्राप्ति

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

केवल पूजासे परमात्माकी प्राप्ति

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

केवल नमस्कारसे परमात्माकी प्राप्ति

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

(महा० शान्ति० ४७ । ९१)

'एक बार भी श्रीकृष्ण भगवान्को किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेध यज्ञोंके अवभृथ-स्नानके समान होता है । इतना ही नहीं, दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाला तो उसके फलको भोगकर पुनः जन्मको प्राप्त होता है, किंतु भगवान् कृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें नहीं आता ।'

केवल भक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति

फिर भगवान्‌की भक्ति करनेवाला भक्त भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है । गीतामें बताया है—

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(७ । २३)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

इससे यह सिद्ध है कि भक्तिके एक अङ्ग तथा शरणागतिके एक अङ्गसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । भगवान्‌की शरणका जहाँ प्रकरण आता है, वहाँ भक्तिका भी उसमें अन्तर्भाव है (गीता ९ । ३४) और जहाँ भक्तिका प्रकरण है, वहाँ शरणका उसमें अन्तर्भाव है (गीता ११ । ५५) । समझना चाहिये कि भक्तिके जो लक्षण हैं, प्रायः वे ही शरणागतिके हैं और जो शरणागतिके लक्षण हैं, वे ही प्रायः भक्तिके हैं । शरणागतिके और भक्तिके लक्षण —दोनों लगभग एक-से ही प्रतीत होते हैं । इसलिये हमें भगवान्‌के शरण होकर—भगवान्‌का भजन-ध्यान करके अपना जीवन बिताना चाहिये । इससे हमारे आत्माका कल्याण बहुत शीघ्र हो सकता है । और कुछ भी न बने तो विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को निरन्तर स्मरण रखना चाहिये तथा भगवान्‌के स्वरूपको याद रखकर पुनः-पुनः मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के स्वरूपका जो ध्यान और स्मृति है, वह अमृतके समान रसमय, आनन्दमय और प्रेममय

है। इसी प्रकार भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदि भी अमृतके समान रसमय, आनन्दमय और प्रेममय हैं। इस प्रकार हमलोगों-को हर समय उनका रसास्वाद करते रहना चाहिये। उन्हें कभी नहीं भूलना चाहिये। इस प्रकार हमलोगोंको मनसे भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन करना चाहिये। मनसे जो ऐसा करना है, वह मनसे भगवान्‌में रमण करना है। इस रमणका फल भगवान्‌की प्राप्ति है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर जो भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदि प्रत्यक्ष होते हैं, वे तो अत्यन्त अलौकिक हैं। इसलिये साधकको साधनकालमें भगवान्‌के स्वरूपमें मनसे रमण करना चाहिये। जब मनुष्य इस प्रकार ध्यान करके मनसे भी भगवान्‌में रमण करता है, तब उसको अद्भुत अलौकिक आनन्द होता है। ऐसा आनन्द कहीं भी नहीं हो सकता। भगवान्‌का जो प्रत्यक्ष सगुण-साकार स्वरूप है, वह बहुत ही मधुर है। इसलिये उन्हें माधुर्य-मूर्ति कहते हैं। उन माधुर्य-मूर्तिका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन—ये सभी आनन्दमय और अमृतमय हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर अपना सारा जीवन भगवान्‌की अनन्य भक्तिमें बिताना चाहिये। जो मनुष्य इस बातको समझकर भी विषयभोगोंमें रमण करते हैं, वे मूर्ख, गये-बीते और पामर हैं, वे संसारके विषयभोगरूपी धूल चाट रहे हैं, वे धिक्कार देनेयोग्य और निन्दा करनेयोग्य हैं। ऐसा अवसर पाकर भी—इस प्रकार भगवान्‌की कृपा (दया) होकर भी यदि हम मुक्तिसे वञ्चित रह जायँ तो हमारे लिये बहुत ही शोक, दुःख और लज्जाकी बात है!

परमात्माकी प्राप्तिके लिये निराश नहीं होना चाहिये

बहुत-से भाई परमात्माकी प्राप्तिके लिये यथासाध्य साधन करते हैं, पर बहुत समयतक साधन करनेपर भी जब परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तब निराश हो जाते हैं। पर वे सज्जन निराश न होकर यदि परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण खोजें तो उन्हें पता लगेगा कि श्रद्धा, प्रेम तथा आदरपूर्वक, निःस्वार्थभावसे तत्परताके साथ साधन न करना ही इसमें प्रधान कारण है। जिस प्रकार लोभी मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये पूरी तत्परताके साथ प्रयत्न करता है, अपना सारा समय, समस्त बुद्धिकौशल धनकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही लगाता है तथा नित्य सावधानीके साथ ऐसा कोई भी काम नहीं करता जिससे धनकी तनिक भी क्षति हो। इसी प्रकार यदि श्रद्धा, प्रेम तथा आदरके साथ पूर्ण तत्परतासे निःस्वार्थभावपूर्वक साधन किया जाय तो इस युगमें परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है।

आत्माके उद्धार या परमात्माकी प्राप्तिमें अबतक जो विलम्ब हुआ, उसे देखकर कभी निराश नहीं होना चाहिये वरं भगवान्‌के विविध आश्वासनोंपर ध्यान देकर विशेषरूपसे साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है कि यदि मरते समय भी मेरा स्मरण कर ले तो उसे मेरी प्राप्ति हो सकती है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझ (भगवान्)को ही स्मरण करता

हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

पापी-से-पापीका तथा मूर्ख-से-मूर्खका भी उद्धार परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और परमात्माकी भक्तिसे शीघ्र हो सकता है । भगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

(गीता ४ । ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(गीता ९ । ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमात्माके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९ । ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

उस परम शान्तिकी प्राप्ति भी ईश्वर, महात्मा, परलोक और

शास्त्रपर विश्वास होनेसे सहज ही हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

जो मनुष्य ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि कुछ भी नहीं जानता, ऐसे अविवेकी मनुष्यका भी सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनके आज्ञानुसार साधन करनेपर उद्धार हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(गीता १३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अतएव परमात्माकी प्राप्तिके न होनेमें श्रद्धा और आदरपूर्वक तत्परताके साथ साधन न करना ही मुख्य कारण है। अतः हमें श्रद्धा और आदरपूर्वक तत्परताके साथ साधन करना चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६। २३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

अतः हमको कभी निराश नहीं होना चाहिये। निराशासे हानिके अतिरिक्त कोई भी लाभ नहीं है। हमारे परम सुहृद् भगवान्‌का वरद-हस्त जब सदा हमारे सिरपर है, तब हम निराश क्यों हों। भगवान्‌ने स्वयं आश्वासन दिया है कि जो प्रेमपूर्वक मुझे भजता है, उसे मैं स्वयं ज्ञान देता हूँ—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

हमारा तो केवल इतना ही काम है कि हम विश्वासपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌को केवल याद रक्खें। भगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण रखनेसे भगवान्‌की प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

नित्य-निरन्तर स्मरण करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है और प्रेम होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना । प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ चित्तकी वृत्ति लग जाती है; जिन-जिन विषयोंमें प्रेम होता है, उन-उनमें चित्त स्वाभाविक संलग्न हो जाता है । अतः जब भगवान्‌में प्रेम हो जायगा तब चित्त भगवान्‌में स्वतः ही लग सकता है । इसलिये संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये । संसार और विषयोंमें दोषबुद्धि, अनित्यबुद्धि तथा त्याज्यबुद्धि करनेसे वैराग्य होता है तथा भगवान्‌के नाम, रूप आदिके गुण, प्रभावको समझनेसे उनमें प्रेम होता है ।

कलिकालमें तो भगवान्‌की प्राप्ति बहुत ही सुगमतासे और शीघ्रतासे हो सकती है । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥

(विष्णुपु० ६ । २ । १५)

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या आदि करनेसे मिलता है,

उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपु० ६। २। १७)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता है।'

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(विष्णुपु० ६। २। ४०)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अतएव कभी निराश न होकर तत्परताके साथ हर समय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निःस्वार्थभावसे भगवान्‌को याद रखते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये तथा भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होनेमें कोई संदेह नहीं है।

गीतामें ईश्वर-भक्ति

भगवान्‌की भक्तिके सम्बन्धमें वही पुरुष कुछ लिख सकते हैं, जो भगवान्‌की अनन्य विशुद्ध भक्ति करते हैं। मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ, इसलिये अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ।

कुछ सज्जन कहते हैं कि गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका विवेचन है, अतः यह कर्मकाण्ड है; सातसे बारहतक बीचके छः अध्यायोंमें भक्तिका विवेचन है, अतः वह उपासनाकाण्ड है और तेरहसे अठारहतक अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानका विवेचन है, इसलिये वह ज्ञानकाण्ड है; उनका यह कथन किसी अंशमें ठीक है। परंतु सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर यह पता लगता है कि प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका विषय अधिक है; परंतु यह बात नहीं है कि अन्यान्य अध्यायोंमें कर्मका प्रकरण नहीं आया हो। इसी प्रकार सातसे बारहतक बीचके छः अध्यायोंमें अधिकांश विषय भक्तिका है; परंतु यह बात नहीं है कि गीतामें अन्य स्थलोंपर भक्तिका प्रकरण नहीं है। गीताका प्रथम अध्याय तो भूमिकाके समान है। पर दूसरेसे अठारहवें अध्यायतक सभीमें न्यूनाधिक रूपसे भक्तिका विवेचन है। इसी प्रकार अन्तिम तेरहसे अठारहतकके अध्यायोंमें ज्ञानका प्रकरण अधिक है, परंतु अन्यान्य स्थलोंमें भी ज्ञानका विषय है और इन तीनों काण्डोंमें ही केवल कर्म, भक्ति तथा ज्ञानके विषय हैं, ऐसा नहीं है। आरम्भके छः अध्यायोंमें ज्ञान और भक्तिका विषय भी आया

है । इसी प्रकार छःसे बारहतकके अध्यायोंमें भी कुछ-कुछ कर्म और ज्ञानका विषय भी आया है । ऐसे ही अन्तिम तेरहसे अठारहतक छः अध्यायोंमें कर्मका विषय भी है और भक्तिका भी । अठारहवें अध्यायमें तो साथ-साथ सभी विषय आये हैं । इस अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनका प्रश्न है । तदनन्तर दूसरेसे बारहवें श्लोकतक केवल कर्मयोगका विषय है । फिर तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक सांख्य अर्थात् ज्ञानका विषय है । इसके बाद इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक भक्तिसामान्य कर्मयोगका प्रकरण है; क्योंकि यहाँ वर्णाश्रम-धर्मकी शिक्षा देते हुए छियालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिसहित कर्मयोगकी व्याख्या की है । इसके अनन्तर उनचासवेंसे पचपनवें श्लोकतक उपासनासहित ज्ञानका अर्थात् ज्ञानकी परानिष्ठाका विषय है । इससे पहले तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो ज्ञानकी व्याख्या की गयी है, उसमें उपासना नहीं है । उसमें यह बताया गया है कि ज्ञानी पुरुषके कर्म किस प्रकार होते हैं । पर यहाँके वर्णनमें ज्ञानके साथ उपासनाकी भी प्रधानता है । इस प्रकार केवल कर्म, उपासनासहित कर्म, केवल ज्ञान और उपासनासहित ज्ञान—इन चारों विषयोंको बताकर अन्तमें छप्पनवेंसे लेकर छाछठवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिप्रधान कर्मयोगकी व्याख्या की है । इसमें भक्तिकी प्रधानता है; क्योंकि अर्जुनके लिये यह खास उपदेश है—अन्तिम उपदेश है, इसे अर्जुनको धारण करवाना है । इसीलिये भगवान्‌ने सिद्धान्त बतलाकर अर्जुनको अपने शरण आनेकी आज्ञा दी है (गीता १८ । ६५-६६) ।

इसके बाद अध्यायकी समाप्ति (श्लोक ६७ से ७८) तक गीताकी

महिमा है। इसमें अन्तिम अठहत्तरवें श्लोकमें संजयके द्वारा धृतराष्ट्रके प्रति विशेषरूपसे ऐसे वचन कहे गये हैं, जिनसे अब भी धृतराष्ट्रके हृदयमें विवेक हो जाय और वे युद्धको रोक दें तो उत्तम है।

इस प्रकार गीतामें सर्वत्र कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनोंका ही अत्यन्त उत्कृष्ट विवेचन है। एक-एक विषयकी प्रधानताके कारण प्रथम छः अध्यायोंको कर्मकाण्ड या कर्मयोग, बीचके छः अध्यायोंको उपासनाकाण्ड या भक्तियोग तथा अन्तके छः अध्यायोंको ज्ञानकाण्ड या ज्ञानयोग भी कहा जा सकता है।

अब, गीतामें किस अध्यायमें कहाँ-कहाँ भक्तिका विवेचन है, इसका कुछ श्लोकोंको उद्धृत करके नमूनेके तौरपर दिग्दर्शन कराया जाता है।

गीताके दूसरे अध्यायके ६१ वें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिका विषय बताया है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'अर्जुन! इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों-को वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।' स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें भगवान्‌ने यह भक्तिकी बात कही।

इसी प्रकार तीसरे अध्यायमें—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।' भगवान् यहाँ अर्जुनको अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंको अपनेमें समर्पण करनेकी आज्ञा दे रहे हैं। इसलिये इसमें भक्तिका भाव प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार चौथे अध्यायमें—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सबप्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

इसके पहले भगवान्‌ने अपने अवतारकी बात कही है और उस अवतारके तत्त्वको जाननेवालेकी महिमाका वर्णन किया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।' यह भी भक्तिका विषय है। इस अध्यायमें भक्ति-भावके अन्य श्लोक भी हैं।

इसी प्रकार पाँचवें अध्यायके अन्तमें—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(गीता ५ । २९)

हे अर्जुन ! मेरा भक्त मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता जाननेसे शान्ति मिलती है या सबका महेश्वर जाननेसे, अथवा सबका सुहृद् जाननेसे या तीनोंको जाननेसे ? इसका उत्तर यह है कि तीनोंके जाननेसे शान्ति मिले, इसमें तो कहना ही क्या है, इन तीनोंमें एकके जाननेसे भी शान्ति मिल जाती है । जब हम यह समझ जायँगे कि भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं, तब अग्निमें आहुति डालेंगे, किसीको भोजन देंगे, या किसीकी सेवा करेंगे तो यही समझेंगे कि भगवान् ही अग्निस्वरूपसे हमारी आहुति ग्रहण कर रहे हैं, भगवान् ही अतिथि या गायके रूपसे हमारा भोजन स्वीकार कर रहे हैं, अथवा भगवान् ही हमारी सेवासे प्रसन्न हो रहे हैं । यों सबमें भगवद्बुद्धि हो सकती है और ऐसा होनेपर परम शान्ति मिल सकती है—मुक्ति हो सकती है । हम यदि यह समझेंगे कि भगवान् सबसे उत्तम हैं, महेश्वर हैं, पुरुषोत्तम हैं, तो ऐसे ज्ञानसे भी मुक्ति हो जाती है ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(गीता १५ । १९)

'हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

तथा भगवान् सबके सुहृद् हैं, इसका यथार्थ ज्ञान होनेपर तो वह स्वयं सुहृद् बन जाता है और उसमें भक्तिमान् पुरुषके (बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बताये हुए) लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं । जो भगवान्‌को सुहृद् मानता है, उस भगवान्‌का अनुयायी भी सुहृद् हो जाना चाहिये । भक्तके इस सौहार्दका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

(गीता १२ । १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।'

पाँचवें अध्यायमें भक्तिका विषय और भी आया है । जैसे—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

(गीता ५ । १०)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता।'

छठे अध्यायमें कहा गया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।'

यह भक्तिका प्रधान श्लोक है। इस अध्यायमें भक्तिके और श्लोक भी हैं। जैसे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है।'

सातवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं। उनमें नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जानने-वाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

सातवें अध्यायमें इसी प्रकार और भी बहुत-से श्लोक हैं; क्योंकि सातवेंसे बारहवें अध्यायतक तो गीताके श्लोक भक्ति-प्रधान हैं ही। इसीसे तो इसे उपासनाकाण्ड भी कहते हैं, परंतु यहाँ केवल दिग्दर्शनके लिये नमूना भर बताया गया है। यहाँ एक बात विशेष-रूपसे ध्यानमें रखनी चाहिये। वह यह कि सातवेंसे बारहवें अध्यायतक अधिकांश श्लोकोंमें जो भगवान्‌के द्वारा शब्द आये हैं, उनमें बहुत-से उनके अपने प्रति भगवान्‌का लक्ष्य करानेवाले हैं। कहीं 'अहं', कहीं 'मम', कहीं 'मयि' के नामसे आये हैं और अर्जुन-के द्वारा भी दसवें तथा ग्यारहवें अध्यायमें जो शब्द आये हैं, वे भी

'भवान्', 'त्वं', 'तव' इत्यादि रूपमें भगवान्‌को लक्ष्य करानेवाले हैं। प्रत्येक श्लोकपर ध्यान दीजिये, सातवेंसे बारहवें अध्यायतक अधिकांश श्लोक आपको ऐसे ही मिलेंगे। इनमें ऐसे बहुत ही कम श्लोक हैं, जो भगवान्‌का लक्ष्य करानेवाले न हों। इसलिये ये भक्ति-प्रधान अध्याय हैं। भक्तिका विषय जितना इन अध्यायोंमें आया है, उतना दूसरे अध्यायोंमें नहीं आया है। सातवेंसे बारहवें अध्यायतक अधिकांश श्लोकोंमें भगवान्‌के प्रबोधक वाक्य हैं और उनका भाव प्रत्यक्ष है। प्रवेश करके देखनेसे आपको मालूम होगा।

आठवें अध्यायमें भक्तिके बहुत-से श्लोक हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यहाँ यह भी कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार और भी—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस प्रकार भक्तिके श्लोक और भी बहुत-से हैं, किंतु यहाँ विस्तार नहीं करना है । आपको केवल दिखा देना है कि इस अध्यायमें भक्तिका विषय विस्तारसे है ।

नवम अध्यायकी तो बात ही क्या है, वह तो भक्तिसे ओतप्रोत है ही । इसमें विशेषरूपसे भक्तिके बहुत-से श्लोक भगवान्‌के द्वारा कहे गये हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।' (अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम योग है और प्राप्तकी रक्षाका नाम क्षेम है ।)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया

हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिपूर्वक खाता हूँ ।' अन्तमें कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(गीता ९ । ३४)

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धा-प्रेमसहित, निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्व-शक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभाव-पूर्वक, भक्तिसहित, साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मेरेको ही प्राप्त होगा ।'

दसवें अध्यायमें भगवान्‌की विभूति और योग (प्रभाव) बतलाया गया है । यह भगवान्‌में भक्ति उत्पन्न होनेके लिये है । भक्तिके विषयमें भी इसमें बहुत-से श्लोक हैं । उनमें ये दो श्लोक धारण करने योग्य हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । ९-१०)

'वे उन निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसके बाद ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपना विश्वरूप दिखलाया है और अर्जुनके द्वारा भगवान्‌के प्रभावसहित उनकी स्तुति-प्रार्थना की गयी है, जो सर्वथा भक्तिसे ओतप्रोत है। इसके अतिरिक्त इसमें भक्तिका साधन भी भगवान्‌ने बताया है। यहाँ विशेष साधनके दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं, जो अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने कहे हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५४-५५)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सब कुछ मेरा समझता हुआ यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परम गति

मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्काम भावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन आदि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है।'

बारहवाँ अध्याय तो भक्तिके उपदेशसे भरपूर है ही। भगवान्‌ने यहाँ निर्णय दे दिया है कि मेरा भक्त सबसे उत्तम है। अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'आपके सगुण रूपकी उपासना करनेवाले उत्तम हैं या निर्गुणकी?'—भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२।२)

'हे अर्जुन! मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुण रूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।' इसलिये भगवान्‌ने आगे चलकर आज्ञा की है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२।८)

'तू मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

इस प्रकार और भी बहुत-से श्लोक इसमें भक्तिके हैं, किंतु

हमें तो यहाँ सार दिखाना है कि गीताके सभी अध्यायोंमें भगवान्‌ने भक्तिका वर्णन किया है, जिनमें सातवेंसे लेकर बारहवेंतक तो भक्तिका विशेषरूपसे वर्णन है ही।

तेरहवें अध्यायमें भी भगवान्‌ने भक्तिके विषयमें कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

(गीता १३। १०)

'मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना।'

इसे ज्ञानकी प्राप्तिका साधन बताया है। ऐसे ही चौदहवेंमें—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता १४। २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है।'

इसी प्रकार पंद्रहवें अध्यायमें भी—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(गीता १५। ४)

'उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति

खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।'

इस प्रकार, तीसरे श्लोकमें वैराग्यका उपदेश देकर चौथेमें परमात्माके अन्वेषणका शरणागतिरूप उपाय बताया है ।

और भी कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(गीता १५ । १९)

'हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

सोलहवें अध्यायमें—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

(गीता १६ । १)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-

पालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तः-करणकी सरलता।'

'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'का अर्थ है ध्यानयोग—यानी परमात्माके स्वरूपका जो ज्ञान है, उसके अनुसार परमात्माके ध्यानमें स्थित होना।

सत्रहवें अध्यायमें—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(गीता १७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदि कालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

अठारहवें अध्यायमें भक्तिके बहुत-से श्लोक हैं, यहाँ उनमेंसे कुछ खास-खास उद्धृत किये जाते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' अन्तमें कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन ! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें

ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलता-पूर्वक मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा। यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'इसलिये सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्यागकर केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार गीतामें दूसरेसे अठारहवें अध्यायतक भगवान्‌की भक्तिका वर्णन है। इससे यह समझना चाहिये कि गीतामें जगह-जगह भक्ति परिपूर्ण है। इसी प्रकार कर्मका और ज्ञानका विषय भी गीतामें परिपूर्ण है।

श्रद्धा-विश्वास, मिलनकी तीव्र इच्छा और निर्भरता

आस्तिकभाव या भगवान्‌की सत्तामें विश्वास

भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होनेपर भी भगवान्‌की सत्ता (होनेपन) में जो विश्वास है, उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; किंतु यह विश्वास पूर्णतया होना चाहिये। मनुष्यके मनमें भगवान्‌के अस्तित्वका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों वह भगवान्‌के समीप पहुँचता जाता है। किसीको भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार किसी भी स्वरूपका वास्तविक अनुभव नहीं है; किंतु यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं; वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम प्रेमी और परम दयालु हैं, वे पतित-पावन और अन्तर्यामी हैं; हम जो कुछ कर रहे हैं, उसे भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं तथा जो कुछ हमारे हृदयमें है, उसे भी वे जान रहे हैं। इस प्रकार विश्वास हो जानेपर उस साधकके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, हिंसा, व्यभिचार आदि भगवान्‌के विपरीत आचरण नहीं हो सकते। इस

विश्वासकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर विरुद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, उसके द्वारा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि जो कुछ होता है, वह भगवान्‌के अनुकूल और उनकी प्रसन्नताके लिये ही होता है । उसके हृदयमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव भगवान्‌के अनुकूल और उत्तम-से-उत्तम होते हैं । भगवान्‌के अस्तित्वमें जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम 'श्रद्धा' है । भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेसे जब साधककी भगवान्‌में परम श्रद्धा हो जाती है, तब उसके हृदयमें प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं । कभी-कभी तो शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित हो जाता है । कभी-कभी विरहकी व्याकुलतामें वह अधीर-सा हो जाता है । उसके हृदयमें यह भाव आता है कि जब भगवान् हैं तो हम उनसे वञ्चित क्यों ? भगवान्‌की ओरसे तो कोई कमी है ही नहीं, जो कुछ विलम्ब होता है, वह हमारे साधनकी कमीके कारण ही होता है और उस साधनकी कमीमें हेतु है विश्वासकी कमी तथा विश्वासकी कमीमें हेतु है अज्ञता यानी मूर्खता ।

अतएव हमको यह विश्वास बढ़ाना चाहिये कि भगवान् निश्चय हैं, वे अबतक बहुतोंको मिल चुके हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं मनुष्यमात्रका उनकी प्राप्तिमें अधिकार है। अपात्र होनेपर भी दयामय भगवान्‌ने मुझको मनुष्य-शरीर देकर अपनी प्राप्तिका अधिकार दिया है । ऐसे अधिकारको पाकर मैं भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रहूँ तो यह

मेरी मूर्खता है तथा यह मेरे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है। बार-बार इस प्रकार सोचने-समझनेपर भगवान्‌के होनेपनमें उत्तरोत्तर भक्तिपूर्वक विश्वास बढ़ता चला जाता है, जिससे उसके मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, तदनन्तर आकाङ्क्षामें तीव्रता आते-आते उसको भगवान्‌का न मिलना असह्य हो जाता है, अतएव वह फिर भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर भगवान् उससे मिले बिना रह नहीं सकते। जो भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाता है, उसके लिये एक क्षणका भी विलम्ब भगवान् कैसे कर सकते हैं। अतएव भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ बढ़ाना चाहिये। इस भक्तिपूर्वक विश्वासकी पूर्णता ही परम श्रद्धा है। परम श्रद्धाके उदय होनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं हो सकता। हमारे श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका एकमात्र कारण है।

शास्त्र और महात्माओंपर श्रद्धा

शास्त्र और महात्माओंपर विश्वास होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो सकती है। शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और महात्मा भी कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' शास्त्रके वचनोंसे भी महात्माके वचन विशेष बलवान् हैं; क्योंकि महात्मा तो परमात्माका साक्षात्कार करके ही कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' महात्मा जो कहते हैं, सत्य ही कहते हैं। जो झूठ बोलते हैं, वे तो महात्मा ही नहीं। यदि महात्मा यह कहते हैं कि 'भगवान् हैं और इस विषयमें शास्त्र प्रमाण

है' तो इस प्रकारका महात्माका वचन तो शास्त्रके समान ही है, किंतु शास्त्रका प्रमाण न देकर यदि महापुरुष कहें कि 'भगवान् निश्चय हैं' तो यह वचन और भी बलवान् है, शास्त्रके प्रमाणसे भी बढ़कर है; क्योंकि बिना प्रत्यक्ष किये महात्मा ऐसा नहीं कहते ।

अतएव महात्माके मनके अनुसार चलनेवालेका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, उनके संकेत (इशारे) और आदेशके अनुसार आचरण करनेपर भी निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । जब कि शास्त्रके अनुकूल चलनेसे भी कल्याण हो जाता है तो फिर महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे या उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु महात्माके वचनोंमें परम श्रद्धा होनी चाहिये । मान लीजिये, किसी महात्माने किसी श्रद्धा दिखानेवाले पुरुषसे कहा कि 'अमुक संस्थामें एक बोरा गेहूँ और दस कम्बल भिजवा दो ।' इसपर उस श्रद्धालुने अपनी बुद्धि लगाकर उत्तर दिया कि 'इस समय न तो कम्बलका मौसम है, न उनकी माँग है और न आवश्यकता ही है ।' तब महात्मा बोले—'अच्छी बात है, गेहूँ ही भिजवा दो ।' श्रद्धालुने कहा—'अभी यहाँ गेहूँके दाम महँगे हैं, पाँच दिनों बाद दाम कम हो जायँगे; दूसरे प्रदेशोंमें बाजार गिर गया है और यहाँ भी गिरनेवाला है; अतएव भाव गिरनेपर भेज देंगे ।' इसपर महात्माने कहा—'बहुत अच्छा । तुम ठीक समझो, वैसे कर सकते हो ।' इसका नाम 'श्रद्धा' नहीं है; क्योंकि यहाँ वह श्रद्धालु महात्माके आदेशका श्रद्धापूर्वक ज्यों-का-त्यों पालन न करके अपनी बुद्धिसे काम लेता है और महात्मा अपनी स्वाभाविक उदारतासे उसमें सहमत हो जाते हैं ।

ऐसी परिस्थितिमें श्रद्धालुकी जो श्रद्धा होती है, उस श्रद्धाका कोई मूल्य नहीं। तथा महात्माकी आज्ञा यदि श्रद्धालुके अनुकूल पड़ती है और श्रद्धालु उसे मान लेता है, तो यह भी श्रद्धालु नहीं है। एवं महात्माकी आज्ञा श्रद्धालुके मनके विपरीत प्रतीत हो, परंतु वह मन मारकर उसे मान ले तो यह भी श्रद्धा नहीं है। मनके विपरीत होनेपर भी महात्माकी आज्ञाको श्रद्धालु प्रसन्नतासे पालन करता है, जैसे राजा युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंने द्रौपदीके साथ विवाह करनेके विषयमें माता कुन्तीके वचन लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध होनेपर भी प्रसन्नता और आग्रहके साथ उनका अनुसरण किया था—इसका नाम 'श्रद्धा' है।

वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है कि वनगमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज माता कौशल्याके पास गये और उन्होंने पिताकी आज्ञासे वनमें जानेकी बात कही। तब माता कौशल्याने कहा—'पिताकी आज्ञा वनमें जानेकी है किंतु मेरी आज्ञा है, तुम वनमें मत जाओ।' यह सुनकर भगवान् रामने कहा—'पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं वन जाना चाहता हूँ। इसके लिये कृपया आप मुझे अनुमति दें।' इसपर कौशल्या बोली—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

भगवान् रामकी दशरथजीमें जो यह श्रद्धा है, यह 'परम श्रद्धा' है।

आयोदधौम्य मुनिने एक दिन अपने शिष्य आरुणिसे कहा—

'तुम खेतमें जाकर नीचे बहे जानेवाले जलको रोक दो ।' उसने वहाँ जाकर उस जलको मिट्टीसे रोकनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उसे सफलता नहीं हुई। वह मिट्टीकी मेंड बनाता और जलका प्रबल प्रवाह उसे बहा देता । जब प्रवाह रुका ही नहीं, तब आरुणि स्वयं वहाँ लेट गया, जिससे जलका बहना बंद हो गया । तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर गुरुजीने शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया ?' उन्होंने कहा—'आपने ही तो खेतका पानी रोकनेके लिये उसे भेजा है ।' यह सुनकर आयोदधौम्य मुनि बोले—'अभीतक आरुणि लौटकर नहीं आया, अतः चलो, हम सब भी वहीं चलें ।' तदनन्तर वे उसी समय शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ आरुणि स्वयं मेंड बनकर जलको रोके हुए था । मुनिने कहा—'वत्स आरुणि ! तुम कहाँ हो, यहाँ आओ ।' यह सुनकर आरुणि उठकर गुरुके पास आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मैंने जल रोकनेका प्रयत्न किया, किंतु जब जल न रुका तो मैंने स्वयं ही लेटकर जलको रोक रक्खा था । आपके वचन सुनकर अब मैं वहाँसे उठकर आ गया हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ, अब आपकी क्या आज्ञा है ? जलको रोके रक्खूँ या दूसरा कोई कार्य करूँ ?' गुरुजीने कहा—'तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, अतः तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होओगे ।' फिर आचार्यने कृपापूर्वक कहा—'तुमने मेरे वचनोंका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणको प्राप्त होओगे और सम्पूर्ण वेद तथा समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारे लिये स्वतः ही प्रकाशित हो जायँगे ।' गुरुजीका वरदान पाकर आरुणि अपने देशको लौट गये । श्रद्धाके

प्रभावसे उन्हें बिना ही पढ़े सारे वेदोंका ज्ञान हो गया।

श्रीहारिद्रुमत गौतम नामके एक ऋषि थे। उनके पास जबालाका पुत्र सत्यकाम गया और बोला—'मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक आपकी सेवामें रहना चाहता हूँ।' गौतमने पूछा—'तुम्हारा गोत्र क्या है?' उसने उत्तर दिया—'मैंने अपनी माँसे पूछा था तो माँने कहा कि 'मैं तुम्हारे पिताकी सेवा किया करती थी, गोत्रका मुझे ज्ञान नहीं है। तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है।' यह सुनकर गौतम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम ब्राह्मण हो; क्योंकि तुम सत्य बोल रहे हो। आजसे तुम्हारी माँके नामसे तुम्हारा गोत्र होगा।' तत्पश्चात् उसे शिष्य स्वीकार करके गौतमने कहा—'तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन कर दूँगा।' फिर उन्होंने चार सौ गायें अलग करके कहा—'तुंम इनके पीछे-पीछे जाओ।' तब उन्हें ले जाते समय सत्यकाम बोला—'इनकी एक हजार संख्या हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' इस प्रकार कहकर वह वनमें चल गया और वहीं वर्षोंतक रहा। जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तब एक बैलने कहा—'अब हमारी संख्या एक हजार पूरी हो गयी, तुम हमें गुरुके पास ले चलो।' वह गायोंको लेकर गुरुके समीप पहुँचनेके लिये चला। वहीं रास्तेमें उसको साँडके द्वारा ब्रह्मके प्रथम पादका, अग्निके द्वारा द्वितीय पादका, हंसके द्वारा तृतीय पादका और मद्गुके द्वारा चतुर्थ पादका उपदेश प्राप्त हो गया। इस प्रकार अनायास ब्रह्मका उपदेश प्राप्तकर वह ब्रह्मज्ञानी हो गया। जब वह गायोंको लेकर गुरुके पास पहुँचा, तब उसके चेहरेकी चमक और शान्तिको देखकर गौतमने कहा—'सत्यकाम! तुम्हारा चेहरा देखनेसे प्रतीत होता

है, मानो तुम्हें ब्रह्मका ज्ञान हो गया है ।' सत्यकाम बोला—'ठीक है । किंतु फिर भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ।' तब गुरुने भी उसे उपदेश दिया । यह है उच्चकोटिकी श्रद्धा ।

अपने मनके विपरीत भी गुरुके आदेशको प्रसन्नताके साथ काममें लाया जाता है, यह श्रद्धा है और अपने मनके अत्यन्त विपरीत आदेश सुनकर भी उसके अनुसार करनेमें अतिशय प्रसन्नता हो अर्थात् इधर गुरुकी आज्ञाकी विपरीतताकी भी कोई सीमा नहीं और उधर उसका पालन करनेमें प्रसन्नताकी भी कोई सीमा नहीं । तात्पर्य यह कि विपरीत-से-विपरीत आज्ञाके पालनके समय प्रसन्नता, शान्ति आदि उत्तरोत्तर इतनी अधिक बढ़ती जाती है कि हृदयमें हर्ष, प्रफुल्लता और शरीरमें रोमाञ्च, अश्रुपात आदिकी सीमा नहीं रहती, बल्कि वे अनवरत बढ़ते ही जाते हैं । यह है परम श्रद्धा ।

उपर्युक्त भावसे भावित हो प्रभुके मनके, संकेतके या आज्ञाके अनुसार करनेवालेका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाता है, इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं ।

इसी प्रकार शास्त्रकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी ऐसा भाव हो तो उसे शास्त्रमें परम श्रद्धा समझना चाहिये ।

ईश्वरके मिलनेकी तीव्र इच्छा

एक भाई दुर्गुण और दुराचारसे युक्त है, किंतु ईश्वरके मिलनेकी महिमाको सुनकर उसके मनमें ईश्वरसे मिलनेकी तीव्र इच्छा जाग उठी; ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर ध्यान न देकर उसे अविलम्ब दर्शन दे सकते हैं । कोई दो-तीन

सालका छोटा बालक मल-मूत्रसे भरा है और माताके लिये अत्यन्त व्याकुल है। स्नेहमयी माता अपने उस हृदयके टुकड़ेको जलसे शुद्ध करके हृदयसे लगाना चाहती है, किंतु बालक इतना आतुर है कि विलम्ब सहन नहीं कर सकता। उसे इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि मल-मूत्रसे लथपथ होनेके कारण मुझको माँ हृदयसे लगानेमें विलम्ब कर रही है, वह तो मातासे मिलनेके लिये अतिशय करुणाभावसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोता है। ऐसी परिस्थितिमें माता उसकी अतिशय व्याकुलताको देखकर स्नेहके कारण उसे हृदयसे लगा लेती है। पर भगवान्‌का स्नेह तो अनन्त माताओंसे बढ़कर है, फिर वे विलम्ब कैसे कर सकते हैं। स्नेहके कारण जब भक्तके हृदयमें प्रभुसे मिलनेकी लालसा अत्यन्त बढ़ जाती है, तब भगवान् उसके दुर्गुण-दुराचाररूप दोषोंकी ओर देखकर भी विलम्ब नहीं करते।

माता तो बच्चेके मल-मूत्रकी सफाई करनेमें कुछ विलम्ब भी कर सकती है; किंतु भगवान्‌की दृष्टिमें तो उस साधकके दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं जाते, तब वे कैसे विलम्ब कर सकते हैं? पर साधकके हृदयमें मिलनकी इच्छा अत्यन्त तीव्र होनी चाहिये, फिर वह कैसा भी दुराचारी क्यों न हो। भगवान् तो केवल एक तीव्र प्रेम और मिलनकी तीव्र लालसाको ही देखते हैं, और कुछ नहीं। तथा भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश हो जाता है।

अतएव हमलोगोंके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा और परम प्रेम हो, इसके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्‌पर निर्भरता

बिल्लीका बच्चा जैसे अपनी माँपर निर्भर करता है, हमें उससे

भी बढ़कर भगवान्‌पर निर्भर होना चाहिये । दो सालका छोटा बालक थोड़ी देरके लिये भी माँको छोड़ना नहीं चाहता, वह माँके ही भरोसे रहता है । माँ चाहे मारे, चाहे पाले । वह माँके सिवा दूसरेको नहीं जानता । वह तो एक माँपर ही पूर्णतया निर्भर है । इसी प्रकार कल्याणकामीको अपने कल्याणके लिये भगवान्‌पर निर्भर होना चाहिये । भगवान् तारें, चाहे मारें । उसमें कुछ भी विचार न करे—केवल भगवान्‌के ही भरोसे रहे । भगवान्‌के विधानके अनुसार सुख-दुःख आदि जो कुछ प्राप्त होते हैं, उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये और अपनेद्वारा होनेवाले कार्योंमें ऐसा समझना चाहिये कि हमारे सारे कर्म भगवान् जैसे करवाते हैं, वैसे ही होते हैं; किंतु इस विषयमें अकर्मण्यता (कर्म करनेमें जी चुराना) और सकाम कर्म या शास्त्रविपरीत कर्म यदि होते हों तो यह समझना चाहिये कि हमारे कर्मोंमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामका हाथ है; क्योंकि जहाँ भगवान्‌का हाथ है, वहाँ कर्तव्यकर्मकी अवहेलना नहीं हो सकती और कामनाका अभाव होनेके कारण सकाम कर्म भी नहीं होते; तो फिर पापकर्म तो हो ही कैसे सकते हैं । यदि हों तो समझना चाहिये कि वहाँ कामका हाथ है ।

गीतामें अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(३ । ३६)

हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी

बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो ।'

'भगवान्‌की निर्भरता'का यह अर्थ नहीं कि वह बालककी भाँति सर्वथा कर्मोंका त्याग कर देता है । बालकको ज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये कर्तव्य लागू नहीं पड़ता; किंतु जिसको ज्ञान है, वह सर्वथा कर्म छोड़कर बैठे तो वह भगवान्‌की निर्भरता नहीं, वरं प्रमाद है । जो भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह चिन्ता, शोक, भय, ईर्ष्या, उद्वेग आदि दुर्गुणोंसे रहित हो जाता है । उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि गुण स्वयमेव आ जाते हैं ।

अतएव भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के शरण होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करते हुए उसपर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये । भगवान् जो कुछ करें, उसको उनकी लीला समझकर देखता रहे और उसीमें आनन्द माने ।

अनन्य विशुद्ध भगवत्प्रेम और भगवान्‌की सुहृदता

भगवत्प्रेम सर्वथा अनिर्वचनीय है। भगवान्‌के प्रेमी भी उसका वर्णन नहीं कर सकते, फिर मुझ-जैसे साधारण व्यक्तिकी तो बात ही क्या है। प्रेम वाणीके द्वारा नहीं बतलाया जा सकता, वह तो हृदयका गम्भीरतम भाव है। जिसके हृदयमें प्रेमकी जागृति होती है, उसमें कुछ बाहरी चिह्न प्रकट होते हैं। वही बतलाये जाते हैं। वे लक्षण भी साधन-अवस्थाके होते हैं। हृदयमें प्रेम उत्पन्न होनेपर कभी-कभी रोमाञ्च हो जाता है, कभी अश्रुपात होने लगता है, वाणी गद्गद हो जाती है और कण्ठ रुक जाता है—यही प्रेमके बाहरी चिह्न हैं। जब वह प्रेम और भी प्रगाढ़ हो जाता है, तब वह प्रेमीको भीतर-ही-भीतर प्रेममुग्ध कर देता है और उस प्रेमसमाधिमें प्रेमी अपने-आपको भी भूल जाता है। जैसे घीमें जब कचौड़ी सेंकी जाती है तो जबतक वह कच्ची रहती है तबतक तो छलकती है और उसमें क्रिया होती है, परंतु जब वह सर्वथा पक जाती है तब स्थिर—अचल हो जाती है, उसमें कोई क्रिया नहीं होती, इसी प्रकार साधनकालका प्रेम बाहर छलकता है तथा प्रायः उपर्युक्त लक्षण प्रकट हो जाया करते हैं। किंतु जब हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, तब मनुष्य मूकके सदृश चुप हो जाता है, वह उस प्रेममें निमग्न हो जाता है; और जब प्रेममें निमग्न हो जाता है, तब भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। एवं जिस समय भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, उस समय उसकी जो अलौकिक स्थिति होती है, उसका वर्णन वह स्वयं ही

नहीं कर सकता; क्योंकि उस स्थितिमें उसे अपने-आपका ज्ञान नहीं रहकर केवल भगवान्‌का ही ज्ञान रहता है। वह जब भगवान्‌के मुखारविन्दको देखता है, तब उसके नेत्रोंकी दृष्टि भगवान्‌के मुखचन्द्रपर इस प्रकार अपलक स्थिर हो जाती है, जैसे चकोर पक्षीकी दृष्टि पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर स्थिर हो जाती है। वह भगवान्‌के स्वरूपको देखकर इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे भगवान्‌के सिवा किसीका ज्ञान नहीं रहता।

जब भरतजी महाराज चित्रकूटमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे मिले, उस समय उनका प्रेम ऐसा अलौकिक था कि तुलसीदासजी महाराजने उसका वर्णन करनेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ पाया। वे कहते हैं—

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।
कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम पेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई।
केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती।
बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

जब भगवान् लङ्कासे लौटकर अयोध्यामें आये और भरत-

शत्रुघ्नसे मिले, उस समय भी उनका प्रेम सर्वथा अवर्णनीय था। कहीं ग्रन्थोंमें तो नहीं देखा, सुनी हुई बात है कि उस समय वहाँ विभीषण और सुग्रीव भी वर्तमान थे। वे इनके प्रेमको देखकर एकदम रोने लगे कि 'श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न—ये चारों भाई हैं, इनमें परस्पर कितना प्रेम है। हमलोग भी रावण तथा वालीके भाई रहे, पर हम अपने भाइयोंका वध करवाकर यहाँ आये हैं।' वे इनके आदर्श प्रेमव्यवहारको देखकर बड़े लज्जित और दुखी हुए, पर अब मन-ही-मन पश्चात्ताप करनेके अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे।

रामायणमें सुतीक्ष्णजीका प्रेम बहुत ही विचित्र है। भगवान् श्रीरामसे जिस समय सुतीक्ष्णजी मिलते हैं उस समय उनमें जिन प्रेमभाव-तरंगोंका उदय होता है, वे सर्वथा अवर्णनीय हैं।

जिस समय प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्के साक्षात् दर्शन होते हैं, उस समय उसके नेत्रोंकी पलकें नहीं पड़तीं; वह पलक मारने-जितना भी दर्शनका वियोग सहन नहीं कर सकता। उसके लिये तो पलक पड़ना भी विघ्न है। वह नेत्रोंद्वारा भगवान्को देखता है, हाथोंसे भगवान्को स्पर्श करता है, कानोंसे भगवान्की मधुर वाणी सुनता है, वह सभी इन्द्रियोंसे मानो भगवान्के मधुर प्रेमामृतका पान करता रहता है। भगवान्के अलौकिक स्वरूपके सौन्दर्य और लावण्यका कोई वर्णन नहीं कर सकता। शास्त्रोंके आधारपर तो भगवान्के स्वरूपका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है, किंतु भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन होनेके समय प्रेमीके द्वारा उस स्वरूपका वर्णन कदापि सम्भव नहीं है; क्योंकि वह उस समय भगवान्के प्रेममें अत्यन्त

मुग्ध हो जाता है ।

पद्मपुराण पातालखण्डमें आया है कि भगवान् श्रीराघवेन्द्र जब लङ्कासे वायुयानद्वारा आ रहे थे, उस समय श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा संदेश पाकर भरतजी उनके सम्मुख जाने लगे और जब भगवान्‌ने देखा कि मेरा भाई भरत जटा-वल्कलादिसम्पन्न त्यागी तपस्वीका वेष धारण किये पैदल ही आ रहा है, तब उनका हृदय विरहसे कातर हो गया। वे बार-बार 'भाई, भाई, भाई, भाई, भाई'—इस प्रकार रट लगाते हुए तुरंत विमानसे उतर पड़े* । उन्हें भूमिपर उतरते देख भरतजी-के हर्षसे आँसू बहने लगे और वे दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये । भगवान्‌ने अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया । उस समय भगवान् श्रीराम और भरत दोनों ही प्रेममें मुग्ध हो गये ।

इसी प्रकार जब भक्तको भगवान्‌के दर्शन होते हैं, तब उसकी वाणी गद्गद हो जाती है, नेत्रोंकी पलकें स्थिर हो जाती हैं, वह एक-टक देखता ही रह जाता है । फिर कुछ समयके अनन्तर जब धैर्य होता है, तब उसकी वाणी खुलती है और भगवान्‌से बातचीत होती है । भगवान्‌के दर्शनसे सारे संशयोंका और सारे कर्मोंका नाश हो जाता है तथा चित्-जडग्रन्थि खुल जाती है ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डक० २ । २ । ८)

उन भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर हृदयकी जो चित्-जडग्रन्थि

---

* यानादवतताराशु विरहक्लिन्नमानसः ।
भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्भ्रातर्वदन्मुहुः ॥
(पद्म० पाताल० २ । २८)

है, उसका भेदन हो जाता है अर्थात् इस जड शरीरमें जो यह अभिमान है कि 'मैं यह शरीर हूँ और यह मेरा है', यह जो अज्ञान-वश जड और चेतनकी एकता-सी है—यही हृदयकी गाँठ है, भगवत्-साक्षात्कारसे यह खुल जाती है । सारे संशय नाश हो जाते हैं और उसके पुण्य तथा पाप—दोनों ही सब-के-सब समाप्त हो जाते हैं । भगवान्को देखकर वह विमुग्ध हो जाता है और इसके बाद उस भक्तके द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, सब भगवान्को मुग्ध करनेके लिये ही होती है ।

भगवती श्रीराधिकाजी भगवान्की आह्लादिनी शक्ति हैं और भगवान्को आह्लादित करनेके लिये, मुग्ध करनेके लिये ही उनकी सारी चेष्टा होती है । इसी प्रकार भगवान्की भी सारी चेष्टा श्रीराधिका-जीको मुग्ध करनेके लिये ही होती है । इन दोनोंकी यह चेष्टा ही इनकी प्रेम-लीला है । यह लीला पारस्परिक आमोद-प्रमोद और प्रेमकी वृद्धि करनेवाली होती है । इससे उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता ही रहता है । यह प्रेममयी लीला है । इसी प्रकार अपने परमप्रिय प्रेमास्पद श्रीभगवान्के दर्शन पाकर प्रेमी भक्तकी सारी चेष्टा उन्हें आह्लादित करनेके लिये और प्रेममें मुग्ध करनेके लिये होती है और उधर भगवान्की भी सारी चेष्टा अपने उस भक्तको आह्लादित करनेके लिये और प्रेममें मुग्ध करनेके लिये ही होती है। इस प्रकार एक-दूसरेकी चेष्टा एक दूसरेको मुग्ध करनेके लिये, प्रसन्न करनेके लिये हुआ करती है। यह प्रेम-मयी लीला अलौकिक है । अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं कि इस प्रेमलीलाका वर्णन न तो भगवान् ही कर सकते हैं और न भगवान्के भक्त ही; क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है । यहाँ भक्तकी

दृष्टिमें तो भगवान् प्रेमास्पद हैं और भक्त प्रेमी हैं। तथा भगवान्‌की दृष्टिमें भक्त प्रेमास्पद हैं और भगवान् प्रेमी। इन दोनोंका परस्पर अद्भुत प्रेम है। परस्पर प्रेम-साम्य होनेके कारण यहाँ आदर-सत्कार नहीं है। जहाँ आदर-सत्कार है, वहाँका प्रेम भी उच्चकोटिका है; किंतु जबतक आदर-सत्कार है, तबतक प्रेममें कमी है। जहाँ दोनोंका समानभाव है, प्रेमभाव है, एकीभाव है, वहाँ उस एकीभावमें कौन बड़ा और कौन छोटा! ऐसे एकीभावमें स्थित होकर भगवान्‌का भक्त जो कुछ चेष्टा करता है, वह वस्तुतः भगवान्‌में ही क्रीड़ा करता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (६।३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।' अभिप्राय यह कि सारे भूतोंमें परमात्मा जो आत्मरूपसे स्थित हैं, उन परमात्मामें ऐसा वह प्रेमी भक्त एकीभावसे स्थित होकर जो कुछ भी करता है, लोगोंकी दृष्टिमें वह संसारमें विचरण करता है; किंतु भगवान् कहते हैं कि नहीं, वह मुझमें ही क्रीड़ा करता है। उससे पहलेकी उसकी यह स्थिति है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (६।३०)

अर्थात् 'जो पुरुष मुझ परमात्माको सर्वत्र देखता है; जहाँ नेत्र जाते हैं, वहीं मुझको देखता है; जहाँ मन जाता है, वहीं

मुझको देखता है और सबको मुझ परमात्माके अन्तर्गत देखता है, ऐसे पुरुषसे मैं कभी अलग नहीं हो सकता और वह पुरुष मुझसे कभी अलग नहीं होता। (ऐसा जो मेरा प्रेमी है, वह मुझको देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ।)'

यह अलौकिक प्रेममयी लीला निरन्तर चलती रहती है। मान और अपमान—तो संसारी (मायिक) चीजें हैं। प्रेम मान-अपमान दोनोंसे परे है।

साधनकालमें तो भक्त भगवान्‌के नाम और गुणोंका गान (कीर्तन) करता है। नाम, रूप, लीला और धाम—इनके तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको समझकर मुग्ध होता है और भगवान्‌का आदर-सत्कार तथा सेवा-पूजा करता है। किंतु जब इन सब भावोंसे ऊपर उठ जाता है और जब भगवान्‌के साथ उसका एकीभाव हो जाता है, तब कौन किसकी मान-बड़ाई, आदर-सत्कार या सेवा-पूजा करे? आदर-सत्कार तो साधनकालकी चीज है। यदि मैं भगवान्‌के गुणोंका इस प्रकार गान करूँ कि 'भगवान् पतितपावन हैं' तो इसका अभिप्राय यह है कि 'मैं पातकी हूँ और भगवान् पतितपावन हैं। इसलिये मैं पवित्र हो जाऊँगा; क्योंकि भगवान्‌के दर्शनसे, वार्तालापसे, भाषणसे तो पापी-से-पापी भी परम पवित्र बन जाता है और उसका उद्धार हो जाता है। जब मैं दुखी होऊँगा, तब भगवान्‌से कहूँगा कि प्रभो! आप दयाके सिन्धु हैं, क्योंकि मैं दयाका पात्र हूँ। आप दया करें।' यह भी बहुत उत्तम भाव है—पर यह साधनकालकी बात है।

इसी प्रकार प्रेममें भय तथा लज्जा भी नहीं रहती; क्योंकि ये भी साधनकालमें ही होते हैं। भगवान्‌के भक्त भगवान्‌को अपने-अपने

भावसे भजते हैं । जहाँ पति-पत्नीका भाव है, वहाँ कोई लज्जा तो नहीं है; किंतु आदर है । पत्नी अपने पतिका आदर, सत्कार, सेवा करती है । जहाँ स्वामी-सेवक-भाव है, वहाँ सेवक स्वामीका आदर-सम्मान भी करता है तथा संकोच और भय भी करता है । मनमें कुछ मानका भाव रहता है । जहाँ वात्सल्यभाव है, वहाँ स्नेह रहता है और उस अपत्य-स्नेहमें रक्षाका तथा पालनका भाव रहता है । यहाँ एकीभावमें रक्षा और पालनका भाव भी नहीं है । और जहाँ सख्यभाव रहता है, वहाँ कोई भय तो नहीं रहता और मोह भी नहीं रहता; वहाँ परस्पर आदर-सत्कारकी बात भी नहीं रहती; किंतु जिस प्रकार पति-पत्नीमें परस्पर किंचिन्मात्र भी संकोच और लज्जा नहीं रहते, ऐसी बात वहाँ नहीं है । वहाँ उस भावमें कुछ संकोच और लज्जा रहते हैं । जब मनुष्य इन सारे भावोंसे ऊपर उठ जाता है, तब वहाँ लज्जा, भय, मान, बड़ाई, सत्कार, संकोचका अत्यन्त अभाव हो जाता है ।

जैसे हमारे दो हाथ हैं, वे परस्पर एक-दूसरेका आदर-सत्कार नहीं करते और न एक-दूसरेका भय करते हैं । उनमें परस्पर कोई लज्जा और संकोच भी नहीं है । जब दोनों हाथ मिलते हैं तो एक-की-ज्यों हो जाते हैं । इसी प्रकार भक्त और भगवान्‌का एकीभावसे मिलन है । भक्त और भगवान्‌का जब मिलन होता है, उस समय माला, वस्त्र और आभूषण भी वहाँ व्यवधानरूप हैं । निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिमें जो शान्तभाव है, उससे प्रेमका यह शान्तभाव दूसरे प्रकारका है । उस शान्तभावमें कोई क्रिया नहीं रहती; किंतु यहाँ क्रिया है । यहाँ उनकी जो क्रिया है, वही लीला है या यों कहिये

कि वह प्रेमक्रीड़ा है। दोनों एक दूसरेको देखते ही रहते हैं। उस समय परस्परका जो दर्शन, भाषण, वार्तालाप और स्पर्श है, सभी अमृतमय, आनन्दमय, प्रेममय, रसमय और परम मधुर है। भगवान्‌का श्रीविग्रह भक्तके लिये अमृतमय और आनन्दमय तथा भक्तका विग्रह भगवान्‌के लिये प्रेममय और आनन्दमय है। उनका जो परस्परका भाषण है, वह बहुत ही मधुर है। वाणी कानके लिये अमृतके समान है, दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है, स्पर्श अङ्गके लिये अमृतके समान है। सभी कुछ अमृतमय, आनन्दमय, रसमय और प्रेममय है। उस समयके इस भावका किसी प्रकार भी वाणीके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। नेत्रोंसे परस्पर मानो एक-दूसरेको पी रहे हैं; स्पर्शके द्वारा मानो एक दूसरेमें प्रवेश कर रहे हैं। वाणी परस्पर ऐसी मधुर-सुधामयी लगती है कि वह उसे निरन्तर सुनते ही रहना चाहता है। इसमें एक क्षणका भी व्यवधान सहन नहीं होता। नेत्रोंसे देखते ही रहें, पलक मारना भी सहन नहीं।

यहाँ दोनोंमें समानभाव होता है और वे दिव्य गुणोंसे सम्पन्न होते हैं। यहाँ एक दूसरेकी दृष्टिमें गुण और गुणीका कोई भेद नहीं है कि भगवान् तो गुणी और उनके ये गुण हैं अथवा भक्त गुणी और उन भक्तोंके ये गुण हैं। वे तो सारे गुणों और भावोंसे ऊपर उठे हुए हैं। सात्त्विक गुण भी वास्तवमें मायाका ही कार्य है; किंतु भगवान्‌में तो दिव्य गुण हैं। भगवान् स्वयं मायिक गुणोंसे अतीत हैं। वे दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न हैं। वह भक्त भी उन दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न है।

तत्त्वसे देखा जाय तो यहाँ प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—तीनों एक ही हैं। भगवान् प्रेमास्पद और भक्त प्रेमी तथा उन दोनोंका जो सम्बन्ध है, वह प्रेम है। यहाँ तीनोंके रूप पृथक्-पृथक् हैं, पर वास्तवमें धातुसे एक हैं; क्योंकि तीनों ही चेतन हैं। इस प्रेमराज्यमें दूसरे किसी व्यक्तिका प्रवेश नहीं है। न तो वहाँ किसीके जानेका अधिकार है और न कोई जा ही सकता है। यदि कोई भूला-भटका वहाँ पहुँच जाता है तो उसे लीलाके दर्शन नहीं होते। वहाँ न कोई शृङ्गार है, न आभूषण है और न कोई आयुध ही है। यद्यपि भगवान्‌के सारे पदार्थ चेतन हैं; किंतु चेतन होते हुए भी वहाँ किसी पदार्थकी आवश्यकता ही नहीं है। इसी प्रकार भक्त, भगवान् और भक्तिकी बात है। भक्तिका नाम यहाँ प्रेम है, भक्तका नाम प्रेमी और भगवान्‌का नाम प्रेमास्पद है। भक्त, भगवान् और भक्ति कहें या प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम—एक ही बात है। शब्दोंका ही भेद है। वस्तुका कोई भेद नहीं है। भक्ति-मार्गकी उच्च-से-उच्च अवस्थाका यह फल है। भगवान्‌की प्राप्ति कहें या प्रेमास्पदकी प्राप्ति—एक ही है। ऐसा जो प्रेमास्पद है, यहाँ भोगोंकी तो गन्ध भी नहीं है; किंतु मुक्तिका भी यहाँ मूल्य नहीं है। ऐसे भक्त और भगवान्‌का जो पारस्परिक मिलन और प्रेम है, वही सर्वोत्कृष्ट सत्सङ्ग है; इस सत्सङ्गकी रामायणमें बड़ी महिमा गायी है और कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

परमात्मा 'सत्' हैं और उनका सङ्ग 'सत्सङ्ग' है। यानी सत् परमात्माके साथ जो 'विशुद्ध प्रेम' है, वही 'सत्सङ्ग' है। भगवान्‌के

प्रति जो यह सङ्ग है, भगवान्‌के साथ एकता है, भगवान्‌के साथ मिलन है, परस्पर प्रेम है, यह उच्चकोटिका सत्सङ्ग है। इसकी तुलनामें स्वर्गकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकारका जो प्रेमी पुरुष है, वह भगवान्‌का उच्चकोटिका अनन्य भक्त है। ऐसे पुरुष संसारके कल्याणके लिये यदि संसारमें आ जायँ तो श्रद्धापूर्वक उनके दर्शन, भाषण और वार्तालापसे ही मनुष्योंकी मुक्ति हो सकती है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके साथ मुक्तिकी तुलना नहीं हो सकती।

भगवान्‌ने पूतनाको मुक्तिपद दिया, उसे परम धाममें भेज दिया, उसका परम कल्याण कर दिया। किसीने इसपर प्रश्न किया कि 'जब भगवान्‌ने विष पिलानेवाली पूतनाको मुक्ति दे दी तो अमृतके समान दूध पिलानेवाली यशोदा मैयाको वे और क्या देंगे? दोनोंको ही मुक्ति दें तब तो न्याय नहीं। विष पिलानेवाली पूतनाको भी मुक्ति और अमृतके समान दूध पिलानेवाली माता यशोदाको भी मुक्ति?' तो इसका उत्तर यह है कि पूतनाको भगवान्‌ने मुक्ति तो दी, पर अपने-आपको नहीं दिया; परंतु यशोदाकी गोदमें तो भगवान्‌ने अपने-आपको ही समर्पण कर दिया। यह नियम है कि भक्त जब अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देता है, तब भगवान् भी अपने-आपको भक्तके प्रति समर्पण कर देते हैं। जब भगवान्‌ने अपने-आपको ही यशोदाके प्रति दे दिया तो उसके सामने मुक्ति क्या चीज है। मुक्ति तो यशोदाजीके आँगनकी धूलिमें वास करती है। भक्त लोग कहते हैं कि व्रजकी रजमें मुक्ति वास करती है तो फिर यशोदाके आँगनकी धूलिमें मुक्ति वास करे, इसमें तो कहना ही क्या है। अभिप्राय यह कि यशोदाके आँगनकी धूलिको कोई मस्तकपर धारण करे या उसका पान करे तो वह भी मुक्तिका अधिकारी हो जाता

है । अतः पूतनाको जो मुक्ति दी, उस मुक्तिका तो यशोदाके यहाँ सत्र चलता रहता था ।

जो महान् पुरुष प्रेममें मुग्ध हैं, उनका स्वरूप प्रेममय ही है । वे जिस मार्गसे चलते हैं, प्रेमका वितरण करते हुए ही चलते हैं । उन प्रेमीके प्रेमकी हवा किन्हींको लग जाय तो वे भी प्रेममें मुग्ध हो जाते हैं ।

जब भगवान् श्रीकृष्ण सायंकालमें गौओंके खुरकी धूलिसे धूसरित होकर वृन्दावनमें प्रवेश करते थे, तब उस स्वरूपको देखकर गोपियाँ मुग्ध हो जाया करती थीं । भगवान्‌के स्वरूपको देखकर मुग्ध हो जानेमें तो बात ही क्या है, जब उद्धवजी व्रजमें गये और गोपियोंसे मिले तो गोपियोंकी प्रेमलीला, प्रेमक्रीडाको देखकर वे अत्यन्त मुग्ध हो गये और कहने लगे कि 'मेरे लिये सबसे अच्छी बात यह होगी कि मैं इस व्रजमें कोई गुल्म, लता या ओषधि (जड़ी-बूटी) ही बन जाऊँ। अहा ! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा तो मुझे इन गोपियोंके चरणोंकी धूलि सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी, जिससे मैं पवित्र हो जाऊँगा ।' जब वे भगवान् श्रीकृष्णके पास वापस लौटकर आये तो बोले कि 'प्रभो ! मुझे आपने जो गोपियोंको ज्ञान और योगकी शिक्षा देनेके लिये भेजा था, यह एक बहाना था । वास्तवमें आपने मुझको उनसे प्रेम सीखनेके लिये ही भेजा था ।'

जिनको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है, वे भगवान्‌के प्रेममें मुग्ध रहते हैं । उनके नेत्र प्रेमसे झूमा करते हैं, वे अपने-आपको प्रेममें भुलाकर संसारमें विचरते हैं। जिनको ऐसे प्रेमियोंके दर्शन हो जाते हैं, वे भी प्रेममें अपनी बाह्य स्थितिको खो देते हैं, उनको अपने-

आपका ही ज्ञान नहीं रहता। अतः नीति और धर्मकी मर्यादाके पालनका ज्ञान भी नहीं रहता। जब प्रेमलक्षणा भक्तिके समय साधन-कालमें ही प्रेमवश प्रेमीकी दशा प्रेमके कारण कुछ और ही हो जाती है, तब भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर यानी भगवान्‌के साथ एकीभाव होनेपर जो स्थिति होती है, वह तो सर्वथा वर्णनातीत है। जिसका वर्णन स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते, उसका कोई दूसरा कैसे कर सकता है; क्योंकि वह वाणीका विषय ही नहीं है।

अब भगवान्‌की दयाके विषयमें कुछ चर्चा की जाती है। जब हम भगवान्‌की दयाकी ओर ध्यान देते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् दयाके सागर हैं; किंतु वस्तुतः ऐसा कहना भी स्तुतिमें निन्दा ही है; क्योंकि सागरकी तो एक सीमा होती है और भगवान्‌की दया सीमारहित है। हमलोगोंको दुनियामें दयाके नामसे जो चीज दिखायी देती है, वह सारी दुनियाकी दया मिलकर भी उस दया-सागरकी एक बूँदके बराबर भी नहीं हो सकती; क्योंकि हमलोगोंमें जो दया है, यह तो एक सात्त्विक भाव है और भगवान्‌की दया चिन्मय होनेसे गुणोंसे अतीत है। संसारके सब लोगोंमें जो दया है, वह भगवान्‌की उस दयाके एक बिंदुका आभासमात्र है—प्रतिबिम्ब-मात्र है। जैसे बिम्ब तथा प्रतिबिम्बका अन्तर है, इसी प्रकार भगवान्‌की दया और हमलोगोंकी दयाका अन्तर है। भगवान्‌की दया अपरिमित और अनन्त है। आकाशका भी कहीं अन्त आ सकता है; किंतु भगवान्‌की दयाका तो अन्त आता ही नहीं। जब मनुष्यको वास्तवमें इस बातका ज्ञान हो जाता है कि भगवान् ऐसे दयालु तथा प्रेमी हैं, तब वह प्रेम और दयाके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है और फिर

वह समझनेवाला भक्त भी उसी समय सबका सुहृद् बन जाता है अर्थात् वह परम दयालु और परम प्रेमी बन जाता है। भगवान् परम प्रेमी और परम दयालु हैं, इस रहस्यको समझनेवाला प्रेमी भक्त प्रभुसे एक क्षण भी पृथक् नहीं रह सकता, प्रभुके बिना उसका जीवन भार हो जाता है। फिर भगवान्‌से मिले बिना उसके प्राण कैसे रह सकते हैं? क्योंकि वह यह समझता है कि 'भगवान् परम दयालु और परम प्रेमी हैं और वे सब जगह हैं तथा श्रद्धालु और प्रेमीको मिलते हैं और इतने भारी दयाके सागर हैं कि वे सदा सभीपर हेतु-रहित दया और प्रेम रखते हैं। यह मनुष्यका शरीर भी भगवान्‌की अहैतुकी दयासे ही मिला है। तुलसीदासजीने भी कहा है—

आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

चार प्रकारकी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए जीवको दुःखित और आर्त देखकर बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले भगवान् उसे मनुष्यका शरीर देते हैं। हमलोग दयाके पात्र न होने-पर भी हमलोगोंपर भगवान्‌ने दया की, जिससे हमें यह मनुष्यशरीर मिला। यह मनुष्यका शरीर भगवान्‌ने इसीलिये दिया कि मनुष्य ही इस बातको समझ सकता है कि प्रभु बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं; किंतु यह बात समझमें नहीं आयी तो भगवान्‌का वह दया और प्रेमयुक्त परिश्रम सार्थक नहीं हुआ; अतः उसे सार्थक करना चाहिये।

हमलोग मनुष्य कहलाते हैं, अतः हममें मनुष्यत्व तो होना ही चाहिये। इतना उपकार करनेवाले भगवान्‌के प्रति हमें कृतघ्न तो नहीं

होना चाहिये। उनके गुणोंको और उपकारोंको तो नहीं भुलाना चाहिये। भगवान् बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं, इसके जाननेका महत्त्व गीतामें भी कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति। (५। २९)

'मैं सब प्राणियोंका सुहृद हूँ, यह जानकर मनुष्यको शान्ति मिलती है।' सुहृदका अभिप्राय यह है कि भगवान् बिना ही कारण प्रेम और दया करनेवाले हैं। जब हमलोगोंको परम शान्ति नहीं मिली तो भगवान् सुहृद हैं, इस बातको हमलोग कहाँ समझे। जो इस तत्त्वको समझ जाता है, उसको तो समझनेके साथ ही इतनी प्रसन्नता, इतनी शान्ति और इतना आनन्द होता है कि उसे अपने-आपका ही ज्ञान नहीं रहता। और फिर वह स्वयं सबका सुहृद हो जाता है। भगवान्‌ने भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा भी है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

(गीता १२। १३)

'जो सारे भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित है और सभी प्राणियोंपर हेतुरहित दया और प्रेम करनेवाला है (वह मेरा भक्त मुझको प्यारा है)।'

इस सुहृदताके रहस्यको हमलोग समझ जायँ तो हम भी सबके सुहृद बन सकते हैं। इस नियमके होते हुए भी यदि हम इस लाभसे वञ्चित हैं तो हमारे लिये बहुत ही लज्जा, शोक और दुःखकी बात है। इस लाभसे वञ्चित रहनेमें केवल श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही कारण है तथा श्रद्धा-विश्वासकी कमीमें हमारी मूर्खता यानी अविवेक ही कारण है। इसलिये हमलोगोंको सुहृदताका रहस्य जाननेके

लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । उपर्युक्त बातोंपर श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये । फिर अपने-आप ही भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होकर भगवत्कृपासे उनकी प्राप्ति हो सकती है ।

भगवान् हर समय मिलनेके लिये तैयार हैं । इतना ही नहीं, वे तो लालायित हैं, आतुर हैं । किंतु हमको इसपर विश्वास होना चाहिये । जब हमको यह विश्वास हो जायगा कि भगवान् ऐसे प्रेमी और दयालु हैं और वे मिलनेके लिये सदा-सर्वदा भुजा पसारे तैयार हैं, तब फिर हम भगवान्‌को छोड़कर क्षणमात्र भी कैसे जी सकते हैं, उनसे बिना मिले कैसे रह सकते हैं ? इस प्रकारका अपने हृदयमें भाव होना चाहिये और इस भावसे भावित होकर भगवान्‌से मिलनेके लिये हमको आतुर हो जाना चाहिये ।

लड़का जब आतुर हो जाता है तो दयालु माँ उस लड़केको उठाकर हृदयसे लगा लेती है । भगवान्‌की दया तो माँकी अपेक्षा अनन्तगुनी अपार है । यह हमें माळूम हो जाय तो हमारी आतुरता इतनी बढ़ सकती है कि जबतक भगवान् हमें उठाकर हृदयसे न लगा लें, तबतक हमारा रोना बंद ही न हो । भगवान् केवल हमारी उत्कट इच्छा, आतुरता, श्रद्धा, प्रेम, भाव और व्याकुलता देखते हैं । इन बातोंको समझकर यदि हम भगवद्भावसे भावित हो जायँ तो फिर विलम्बका काम ही क्या है ? जैसे बिजलीके तार आदि लगकर जब तैयार हो जाते हैं, तब स्विच दबानेके साथ ही क्षणमात्रमें रोशनी हो जाती है, वैसे ही जब मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे पात्र बन जाता है, तब भगवद्भावसे भावित होनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

सभी साधनोंमें वैराग्यकी आवश्यकता तथा प्रेमाभक्तिका निरूपण

परमात्माकी प्राप्तिके लिये सभी साधकोंको आसक्तिका त्याग अवश्य ही करना चाहिये। कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, पुत्र, धन, स्वाद, शौकीनी, ऐश, आराम आदि सभी संसारके विषयभोगोंमें जो प्रीति है, वह काम-क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्गुण; झूठ, कपट, चोरी, जूआ, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण, प्रमाद आदि दुराचार; सिनेमा, चौपड़-तास, गंदे खेल-तमाशे, मादक वस्तुओंका सेवन और आलस्य आदि दुर्व्यसन तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि दुःखोंकी जननी एवं समस्त अनर्थोंकी जड़ है। इसलिये इस विषय-प्रीतिका—आसक्तिका सर्वथा त्याग करना चाहिये अर्थात् उपर्युक्त सब पदार्थोंसे तीव्र वैराग्य होना चाहिये। जबतक संसार और शरीरसे तीव्र वैराग्य नहीं होता, तबतक साधक किसी भी साधनमें कृतकार्य नहीं हो पाता; क्योंकि सभी साधनोंमें वैराग्यकी परम आवश्यकता है। बिना वैराग्यके किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं।

अष्टाङ्गयोगमें महर्षि पतञ्जलिजीने चित्तवृत्तिके निरोधके लिये दो ही मुख्य साधन बतलाये हैं—अभ्यास और वैराग्य।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (यो॰ द॰ १। १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है।'

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (यो॰ द॰ १। १३)

'उन दोनोंमेंसे चित्तकी स्थिरताके लिये जो प्रयत्न करना है, वह अभ्यास है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(यो० द० १ । १४)

'परंतु वह अभ्यास बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किये जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

इसके पश्चात् वे वैराग्यका लक्षण बतलाते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
(यो० द० १ । १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है, वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (यो० द० १ । १६)

'एवं पुरुषके ज्ञानसे प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका जो सर्वथा अभाव हो जाना है, वह परवैराग्य है।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि बिना वैराग्यके चित्तवृत्तियोंका निरोध नहीं होता और चित्त-वृत्तियोंका निरोध हुए बिना आत्माका ज्ञान नहीं होता। आत्माका ज्ञान तो चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर ही होता है। श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो० द० १ । २)

'चित्तकी वृत्तियोंका निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है।'

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (यो० द० १ । ३)

'उस समय द्रष्टाकी अपने रूपमें स्थिति हो जाती है।' वेदान्त-सिद्धान्त अर्थात् अद्वैतमतके अनुसार अद्वैतज्ञानकी सिद्धि भी बिना वैराग्यके नहीं हो सकती। अद्वैतमतावलम्बीके लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न

होना परम आवश्यक है। उसमें भी विवेक-वैराग्य प्रधान हैं। साधनचतुष्टयका स्वरूप यह है—

(१) विवेक—सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुओंका विवेचनपूर्वक यथार्थ ज्ञान।

(२) वैराग्य—शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति (राग) का अत्यन्त अभाव।

(३) षट्सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान।

शम—मनका पूर्णरूपसे निगृहीत (संयमित), निश्चल और शान्त हो जाना।

दम—इन्द्रियोंका पूर्णरूपसे निगृहीत (संयमित) और विषयोंके रसास्वादसे रहित हो जाना।

उपरति—मनकी चञ्चलताका अर्थात् संकल्प-विकल्प आदि विक्षेपोंका अत्यन्त अभाव हो जाना।

तितिक्षा—शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करना (गीता २। १४)।

श्रद्धा—वेद, शास्त्र, ईश्वर, महात्मा और परलोकमें प्रत्यक्षकी भाँति भक्तिपूर्वक विश्वास हो जाना।

समाधान—संसारके सभी विषयोंसे सम्यक् प्रकारसे मन और बुद्धिका हटकर अपने इष्टमें लग जाना।

(४) मुमुक्षुता—मुक्तिके अतिरिक्त सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागपूर्वक केवल एक आत्मोद्धारकी ही तीव्र इच्छा होना।

ये सब साधन विवेकपूर्वक वैराग्यके बिना सम्भव नहीं और इन साधनोंके बिना सच्चिदानन्दघन ब्रह्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन नहीं हो सकता एवं इनके बिना ब्रह्मज्ञानरूप परमात्म-प्राप्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये ज्ञानके साधनमें भी वैराग्यकी परम आवश्यकता है। गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(५।२१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्न-भावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।' क्योंकि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

ये विषयभोग किस प्रकार दुःखके कारण हैं, इसका वर्णन करते हुए महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (यो० द० २।१५)

'परिणामदु:ख, तापदु:ख, संस्कारदु:ख—ऐसे तीन प्रकारके दु:ख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और सात्त्विक, राजस, तामस—इन तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब भोग दु:खरूप ही हैं।'

इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानके साधन बतलाते हुए विषयोंसे वैराग्य करनेका उपदेश दिया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

(गीता १३। ८-९)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दु:ख और दोषोंका बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना।'

आगे अठारहवें अध्यायमें भी ज्ञानयोगका वर्णन करते हुए कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(गीता १८। ५१-५२)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध

देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके और भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर, ध्यानयोगके नित्य परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है) ।'

कर्मयोगका साधन भी बिना वैराग्यके नहीं हो सकता । आसक्तिके त्यागसे ही योगनिष्ठाकी सिद्धि होती है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

(३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

इसीलिये—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥

(गीता ५ । ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

भक्तियोगकी सिद्धि तो संसारसे दृढ़ वैराग्य और भगवान्‌में अनन्यप्रेम होनेसे ही होती है। इसीलिये संसारसे तीव्र वैराग्य करके भगवान्‌में ही अनन्यप्रेम करना चाहिये। भगवान्‌को छोड़कर यदि किसी अन्य पदार्थमें प्रीति है तो वह भक्ति व्यभिचारिणी है। अनन्यभक्तिसे ही भगवान्‌का साक्षात् दर्शन होता है और भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान भी अनन्यभक्तिसे हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार रूप-वाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही हमारे स्वामी, शरण लेनेयोग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं, उनके अतिरिक्त हमारा कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है, अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो, जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे, जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुके प्रति न रहे और

जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाय—उस अनन्यप्रेमका नाम अनन्यभक्ति है ।

श्रीनारदभक्तिसूत्रमें भी कहा है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति । (भक्तिसूत्र १९)

'देवर्षि नारदके मतसे तो अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का विस्मरण होनेमें व्याकुल होना ही भक्ति है ।'

इसलिये संसार, शरीर और भोगोंसे तीव्र वैराग्य करके अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌की ही सब प्रकारसे शरण ग्रहण करनी चाहिये । भगवान्‌ने भी संसारका वृक्षके रूपकसे वर्णन करते हुए उससे वैराग्य और अपने शरण होनेकी बात कही है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(गीता १५ । ३-४)

'इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है । इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ

वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।'

इस प्रकार साधन करनेसे क्या फल होता है, यह बतलाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

(गीता १५ । ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।'

अतएव हमें चाहिये कि सर्वप्रथम भगवान्के साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित करके प्रेम बढ़ावें । 'प्रभु मेरे स्वामी हैं, मैं उनका सेवक हूँ' यह दास्यभाव है; जैसे श्रीहनुमान्जी, श्रीभरतजी आदिका भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें था । 'भगवान् मेरे परम मित्र हैं' यह सख्यभाव है, जैसे अर्जुनका श्रीकृष्णके प्रति था । 'भगवान् मेरे प्राणप्रिय पुत्र हैं' यह वात्सल्यभाव है, जैसे माता यशोदाका

भगवान् श्रीकृष्णमें था। 'भगवान् मेरे परम पति हैं'—यह स्वकीय माधुर्यभाव है; जैसे भगवान् श्रीकृष्णमें रुक्मिणीजीका था। 'भगवान् मेरे परम प्रियतम और सखा हैं'—यह परकीय विशुद्ध माधुर्यभाव है, जैसे राधाजी और गोपियोंका श्रीकृष्णमें था। अतः उपर्युक्त किसी भी भावसे भावित होकर हमें भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये। इस प्रकार परम श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान्‌के साथ किसी भी प्रकारका आत्मीय सम्बन्ध स्थिर हो जानेपर भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जाता है, फिर उसका किसी भी समय भगवान्‌से वियोग होना सम्भव नहीं; क्योंकि मनुष्यका जिस वस्तुके साथ सच्चा अपनापन होता है, उसमें अटूट अनुराग हो जाता है तथा वह वस्तु उसके हृदयसे कभी दूर नहीं होती; और उससे भिन्न वस्तुसे उसका चित्त स्वतः ही रागरहित हो जाता है। इसलिये उस साधकके चित्तमें भगवान्‌की प्रेमपूर्वक स्मृति निरन्तर बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप उसको बहुत शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

अतएव हमें उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌से अनन्यप्रेम करना चाहिये तथा चातक (पपीहे) की भाँति अटूट नियम और एकनिष्ठ भक्ति रखते हुए भगवान्‌के दर्शनके लिये आतुर होना चाहिये। चातक अत्यन्त प्यासा होनेपर भी जमीनपर पड़े हुए जलको कभी नहीं छूता। आकाशमें बादलोंकी ओर देख-देखकर 'पीउ-पीउ' करता रहता है। वह जलहीन बादलको देखकर भी 'पीउ-पीउ' करने लगता है और उससे जलकी आशा लगाये रहता है। यदि बादल ओले भी बरसाता है और उससे उसके पंख भी टूट जाते हैं तो भी वह वर्षा-के जलके लिये व्याकुल हुआ बादलकी ओर ही ताकता रहता है, उसे

अपने पंख टूटनेकी भी परवा नहीं रहती ।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥

'मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है, इतनेपर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी किसी दूसरी ओर ताकता है ?'

इसलिये—

जौं घन बरसै समय सिर जौं भरि जनम उदास ।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस ॥

'तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो) और चाहे जन्मभर उदासीन रहो,—कभी न बरसो, परंतु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है ।'

इसी प्रकार हमें भी भगवान्‌के दर्शनकी उत्कण्ठा, इच्छा और प्रतिक्षण आशा-प्रतीक्षा करनी चाहिये । चाहे कितनी ही आपत्तियाँ आयें, चातकके एकमात्र वर्षाके लिये व्याकुल रहनेकी भाँति निर्भय होकर एकमात्र भगवान्‌के दर्शनकी ही लालसा रक्खें, अन्य किसीकी नहीं ।

मछली जिस प्रकार जलके बिना व्याकुल हो जाती है । थोड़ी देर भी जल न मिलनेपर वह तड़प-तड़पकर प्राण-त्याग कर देती है, इसी तरह भगवान्‌की विरह-व्याकुलतामें हमारी दशा हो जानी चाहिये । भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें दर्शनकी अभिलाषा अत्यन्त तीव्र हो

जाती है, उस तीव्र लालसामें भगवान्‌की स्मृतिका एक निराले ही ढंगका रसानुभव होता है, जो संयोगमें नहीं होता।

जब साधक भगवान्‌के लिये परम व्याकुल हो जाता है, तो फिर भगवान्‌को बाध्य होकर तत्काल प्रकट होना पड़ता है। जैसे रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर विलाप करने लगीं तो भगवान् उसी समय उनके वासस्थानपर पहुँच गये और उनको ले आये। जब मनुष्य भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें एकदम अधीर हो जाता है और उसके प्राण जानेकी तैयारी हो जाती है, तब फिर भगवान् एक क्षण भी नहीं रुकते। जब गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल हो गयीं और विलाप करने लगीं तो उनके प्राण जानेकी नौबत आ गयी, तब भगवान् श्रीकृष्ण उनके बीचमें प्रकट हो गये और महारास करने लगे।

जिस प्रकार भरतजी महाराज भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो गये थे, उसी प्रकार हमें भगवान्‌के लिये व्याकुल होना चाहिये। श्रीभरतजीकी उस अवस्था और विलापका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥

वैराग्य और अनन्यप्रेमका कैसा मूर्तिमान् स्वरूप है। इस प्रकार जब भगवान् श्रीरामने भरतजीकी इस दशाका खयाल किया तो उस समय हनुमान्‌जीको भेजा और फिर स्वयं पहुँच गये।

इसी प्रकार संसारसे विरक्त और भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर मनसे भगवान्‌के परम पावन नामोंका उच्चारण करते हुए उनका आह्वान करना चाहिये एवं मनसे ही उनका दर्शन करके ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार मनसे ही उनका दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप करते हुए सुतीक्ष्णकी भाँति उनके प्रेममें मग्न होना चाहिये।

श्रीसुतीक्ष्णजी भगवान् श्रीरामके प्रेममें इतने मुग्ध हो गये थे कि उनको पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—दिशाओं और नैर्ऋत्य, वायव्य, आग्नेय और ऐशान्य—विदिशाओंका भी ज्ञान नहीं रहा। उनकी इस प्रेममयी दशाको देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। उस समय वे मार्गमें ही बैठ गये और उनके सारे शरीरमें कटहलके फलके समान रोमाञ्च हो आये, तब भगवान् श्रीराम उनके निकट आ गये और उनकी प्रेममयी दशाको देखकर मुग्ध हो गये। भगवान् मुनिको ध्यानसे जगानेकी चेष्टा करने लगे, किंतु सुतीक्ष्णजीका ध्यान नहीं छूटा। तब भगवान्‌ने अपने स्वरूपका आकर्षण कर लिया। इसपर मुनिने व्याकुल होकर आँखें खोलीं तो

उन्हें दिखायी दिया कि भगवान् सामने खड़े हैं। वे आनन्द और प्रेममें अत्यन्त मुग्ध होकर भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने उनको अपनी भुजाओंसे उठाया और हृदयसे लगा लिया। सुतीक्ष्णजी भगवान्‌की ओर ही एकटक देखने लगे। पश्चात् उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की और अपने आश्रमपर ले जाकर विविध प्रकार-से उनकी पूजा की।

अतः भगवान्‌का ध्यान करते हुए जब साधक तन्मय हो जाता है तो कभी भगवान् प्रकट होकर साक्षात् दर्शन दे देते हैं; इसलिये हमलोगोंको प्रेमी भक्त सुतीक्ष्णकी भाँति भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो जाना चाहिये।

फिर ऐसी धारणा करनी चाहिये कि भगवान् आकाशमें पधार गये हैं और मुझपर क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, समता, प्रेम और आनन्द आदि दिव्य गुणोंकी अनवरत वर्षा कर रहे हैं तथा भगवान्‌से प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी वर्षा-धारा मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरके अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्लावित करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेश करके और मेरे रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, जागृति, आनन्द और शान्तिका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्‌के इस दिव्य स्वरूपको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींको देख रहा हूँ। फिर देखता हूँ कि भगवान् भूमिपर आकर स्थित हो गये हैं और मैं उनका दर्शन करके

आनन्दमें मुग्ध हो उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा हूँ तथा जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीभरतजीको अपने हृदयसे लगा लिया था, उसी प्रकार भगवान् मुझे उठाकर अपने हृदयसे लगा रहे हैं। अहो ! भगवान्‌का यह दर्शन, स्पर्श, चिन्तन, भाषण और वार्तालाप—सभी परम मधुर, अनन्त रसमय, अमृतमय, प्रेममय और आनन्दमय है।

हाथोंसे भगवान्‌का स्पर्श करते समय मानो सारे शरीरमें रोमाञ्च और आनन्दकी बिजली-सी दौड़ रही है तथा हृदयसे स्पर्श करते समय सारे शरीरमें आनन्दकी लहरें उठ रही हैं ! नेत्रोंसे दर्शन करते समय ऐसा लगता है मानो मैं नेत्रोंके द्वारा दिव्य अमृतका पान कर रहा हूँ। भगवान्‌का मुखारविन्द और नेत्र कमलके पुष्पकी भाँति खिले हुए हैं। भौंरा जैसे कमलके एक पुष्पसे दूसरे पुष्पपर और दूसरेसे तीसरेपर बैठता है और उसका रसास्वाद लेता है, इसी प्रकार मेरे नेत्ररूप भौंरे कभी भगवान्‌के मुखकमलको देखते हैं तो कभी भगवान्‌के कमलके समान कोमल कपोलोंको और कभी भगवान्‌के कमलसदृश प्रफुल्लित नेत्रोंको देखते हैं—इस प्रकार मैं भगवान्‌के नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलाकर अमृतमय रसास्वाद ले रहा हूँ। जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको, जबतक दीखता है, एकटक देखता ही रहता है, उसी प्रकार मैं भगवान्‌के नेत्र, कपोल और मुखारविन्दको मनके नेत्रोंसे एकटक देख रहा हूँ और उनका रसास्वाद ले-लेकर आनन्दमें विभोर हो रहा हूँ। भगवान्‌की वाणी अतिशय कोमल, परम सुन्दर, बहुत ही मधुर और हमारे कानोंके लिये अमृतमय, रसमय और परम प्रिय है। भगवान्‌के

श्रीविग्रहसे अलौकिक सुगन्ध आ रही है, जो कि हमारी नासिकाके लिये अमृतमय और रसमय है। इस प्रकार भगवान्‌का स्पर्श हृदय और हाथोंके लिये, दर्शन नेत्रोंके लिये, सुगन्ध नासिकाके लिये, वाणी कानोंके लिये, अत्यन्त रसमय और अमृतमय है। जिस तरह गोपियाँ मनसे मनन और बुद्धिसे प्रत्यक्ष अनुभव करती हुई दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, नृत्य और वाद्य आदिके द्वारा भगवान्‌में ही रमण करती और आनन्दमें निमग्न होती रहती थीं, उसी तरह मैं मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरके द्वारा भगवान्‌के साथ रमण करता हुआ दिव्य रसास्वाद ले रहा हूँ। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(१०।९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

इस प्रकार भगवान्‌में मनको लगाना, मन, शरीर और इन्द्रियों-के द्वारा उनके साथ सम्बन्ध करना ही उनमें रमण करना है और उससे उत्पन्न हुए प्रेमानन्दका अनुभव करना संतोषलाभ करना है। जैसे मछलीके लिये जल ही जीवनका आधार है, वैसे ही भक्तके जीवनके आधार श्रीभगवान् ही हैं एवं जिस प्रकार गोपियाँ भगवान्

श्रीकृष्णके तत्त्व-रहस्यके विषयमें परस्पर तथा कभी-कभी भगवान्के साथ बातचीत करके भगवान्के तत्त्व-रहस्यका अनुभव करती थीं, इसी प्रकार हम मानो भगवान्के साथ ही वार्तालाप करके उनके तत्त्व-रहस्यका अनुभव कर रहे हैं तथा भगवान्के गुण, प्रभाव और तत्त्वकी बातें हम भगवान्के सम्मुख वर्णन कर रहे हैं।

भगवान्के ध्यानमें ऐसी तन्मयता हो जानेपर और मानसिक मिलनके समय साधकके शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है, नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगते हैं, कण्ठका अवरोध हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है और हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। श्रीनारदजी भी कहते हैं—

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः।
कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च।

(भक्तिसूत्र ६७-६८)

एकनिष्ठ भक्त ही श्रेष्ठ हैं। ऐसे अनन्य भक्तोंके कण्ठावरोध तथा रोमाञ्च हो जाता है और नेत्रोंसे आँसू बहने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें वे परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(११।१४।२४)

'प्रेमका प्रादुर्भाव हो जानेसे जिस प्रेमी भक्तकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, वह प्रेमावेशमें बार-बार रोता है,

कभी हँसता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने और नाचने लगता है। ऐसा मेरा परम भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।'

जो भक्त भगवान्‌के प्रेममें अत्यन्त मुग्ध हो जाता है, ऐसे प्रेमीकी उस प्रेमलक्षणा भक्तिका वर्णन करते हुए श्रीसुन्दरदासजीने बतलाया है—

> **न लाज तीन लोक की, न वेद को कह्यौ करै।**
> **न संक भूत प्रेत की, न देव जक्ष तें डरै॥**
> **सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।**
> **कहै न मुख और बात, भक्ति प्रेम-लच्छना॥**

'जब भक्त प्रेमलक्षणा भक्तिमें तन्मय हो जाता है, तब वह तीनों लोकोंमें किसीकी भी लज्जा नहीं करता, अर्थात् उसको लज्जा करनेका ज्ञान ही नहीं रहता। वह वेद और शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन नहीं कर सकता; क्योंकि प्रेमकी बहुलताके कारण उसे बाहरी ज्ञान नहीं रहता। वह भूत-प्रेतकी आशंका नहीं करता तथा देवता और यक्षोंसे भी नहीं डरता; क्योंकि उसे भगवान्‌के सिवा दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं। वह कानोंसे भगवत्प्रेमके सिवा दूसरी बात नहीं सुनता तथा भगवान्‌के सिवा न देखता ही है और न इच्छा ही करता है। वह वाणीके द्वारा भगवान्‌के गुणानुवाद ही गाता रहता है, उसके सिवा और कुछ भी नहीं कहता। यह प्रेमलक्षणा भक्ति है।'

इस प्रकार प्रेमपूर्वक भजन करनेसे उसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और भगवान्‌के दिये हुए उस ज्ञानसे उनका साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय वह भगवान्‌को ही एकटक

देखता रहता है, उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती तथा अहंकारका विनाश होकर वह अपने-आपको भूल जाता है एवं मन्त्र-मुग्ध-सा हुआ केवल भगवान्के ही स्वरूपका अनुभव करता रहता है। भगवान्के मिलनके समय लज्जा-संकोच, मान, भय, आदर-सत्कार आदि कुछ भी नहीं रहते। वह इन सब भावोंसे ऊपर उठ जाता है। यहाँ प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—तीनों स्वरूपतः पृथक्-पृथक् रहते हुए भी चिन्मय धातुकी दृष्टिसे एक ही हैं। भगवान्की दृष्टिसे तो भक्त प्रेमास्पद और भगवान् प्रेमी हैं एवं भक्तकी दृष्टिसे भगवान् प्रेमास्पद और भक्त प्रेमी है तथा उनका जो परस्पर सम्बन्ध (नाता) है, वही प्रेम है। मानो प्रेम ही भगवान् और भक्तके रूपमें मूर्तिमान् होकर लीला कर रहा है। भगवान्की सारी चेष्टा भक्तको आह्लादित करनेके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्को आह्लादित करनेके लिये होती रहती है। उनका यह प्रेम नित्य-नया बढ़ता हुआ जाग्रत् रहता है। दोनोंका परस्पर समान और एकीभाव है। यहाँ एक दूसरेका आदर-सत्कार नहीं है। आदर-सत्कार, मान-भय और लज्जा-संकोच तो स्वामी-सेवक-भावमें हुआ करते हैं। यद्यपि पति-पत्नी-भावमें लज्जा-संकोच तो नहीं रहते, किंतु आदर-सत्कार, मान और भय रहते हैं। वात्सल्य-भावमें भी आदर-सत्कार, भय, लज्जा और संकोच रहते हैं। सख्यभावमें आदर-सत्कार और भय तो नहीं रहते; किंतु संकोच रहता है। परंतु यहाँ तो एकता, समता और परम प्रेमभाव है। इसलिये परम विशुद्ध प्रेममें लज्जा-संकोच, मान-भय, आदर-सत्कारका लेशमात्र भी नहीं रहता। उस परम प्रेमका वास्तवमें

वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीनारदजी कहते हैं—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(भक्तिसूत्र ५१-५२)

'गूँगेके स्वादकी तरह प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।'

प्रकाशते क्वापि पात्रे। (भक्तिसूत्र ५३)

'किसी बिरले योग्य पात्र (प्रेमी भक्त) में ही ऐसा प्रेम प्रकट होता है।'

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।

(भक्तिसूत्र ५४)

'यह प्रेम गुणोंसे अतीत है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और अनुभवरूप है।'

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। (भक्तिसूत्र ५५)

'इस प्रेमको पाकर प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही आलाप करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।'

इस प्रकारके परम विशुद्ध अनन्यप्रेमी भक्तके अज्ञानका सदाके लिये अभाव हो जाता है। फिर वह भक्त भगवान्‌का साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, जो और जैसा स्वरूप है उसको भगवान्‌की दयासे यथार्थरूपसे जान जाता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह यथार्थ ज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसके लिये हमें अर्जुनकी भाँति भगवान्‌की स्तुति करनी चाहिये—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(गीता १०।१२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं, वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

फिर भगवान्‌से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि भगवन्! आपमें मेरा विशुद्ध प्रेम और अनन्य श्रद्धा बनी रहे, आपसे मेरा कभी वियोग न हो।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥

श्रद्धा, प्रेम और तीव्र इच्छासे भगवत्प्राप्ति

भगवान् शीघ्र-से-शीघ्र कैसे मिलें ? इसका उत्तर यह है कि अपने अंदर श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो फिर भगवान्‌के मिलनेमें विलम्ब नहीं है। अपने मनमें यह श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये कि 'भगवान् हैं, जो इच्छा करता है उसे भगवान् मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं, अब भी मिलते हैं और भविष्यमें भी मिलते रहेंगे तो फिर मैं वञ्चित क्यों रहूँगा।' जिसको इस प्रकारसे दृढ़ विश्वास हो जाता है, उसे फिर, जबतक भगवान् नहीं मिलते, चैन नहीं पड़ती। उसकी रातकी नींद और दिनकी भूख – दोनों उड़ जाती हैं। बहुत-से भाई और माता-बहिनें सत्सङ्गमें यह विचार करके जाते हैं कि 'चलो, इस बार भगवान्‌की प्राप्ति करके ही वापस आना है।' किंतु ऐसा विचार करके कई बार सत्सङ्गमें गये और भगवत्प्राप्ति किये बिना ही लौट आये। इससे उनके मनमें ऐसी धारणा हो गयी कि 'हम अपने मनमें यह भाव तो करते हैं, पर भगवान् मिलेंगे, यह सम्भावना नहीं है।' हृदयमें जैसी धारणा होती है, वैसा ही फल होता है। इसलिये उन्हें भगवान् नहीं मिलते और वे जैसे जाते हैं वैसे ही लौट आते हैं। जिसके यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान् निश्चय ही मिलेंगे उसको भगवान् न मिलें, यह सम्भव ही नहीं है।

भरतजीके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास था कि राम अवश्य ही मिलेंगे। भरतजी कहते हैं—

मोरे मन भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

'मेरे मनमें यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान् अवश्य मिलेंगे और शकुन भी शुभ होते हैं।'

इस विश्वासका आधार है—भगवान्‌का मृदुल स्वभाव। वे कहते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

'भगवान्‌का स्वभाव बहुत ही कोमल है। वे दीनोंके बन्धु हैं और मैं दीन हूँ। मुझमें अवगुण तो बहुत हैं, यदि प्रभु मेरी करनीकी ओर देखें, तब तो करोड़ों कल्पोंमें भी मेरे उद्धारका कोई उपाय नहीं है; किंतु वे अपने दासोंके दोषकी ओर कभी देखते ही नहीं। इसलिये मुझको दृढ़ विश्वास है कि भगवान् अवश्य आयेंगे और मिलेंगे।'

भगवान्‌के कोमल स्वभावके बल-भरोसेपर भरतजी यह दृढ़ विश्वास कर रहे हैं। यदि कहो कि न मिलें, सो ठीक है; किंतु यह सम्भव ही नहीं है। फिर भी यदि न मिलें तो वे कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

'बीतें अवधि' के 'बीतें' शब्दमें यह भाव है कि अवधि बीतनेके साथ ही मेरे प्राण देहमें नहीं रह सकते और यदि अवधि बीतनेपर देहमें प्राण रह जायँ तो समझना चाहिये कि मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं है। मैंने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि अवधि बीतनेपर

भगवान् अयोध्या नहीं पहुँचेंगे तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा, सो अग्निमें प्रवेश तो कोई भी आदमी कर सकता है; यह कोई कठिन बात नहीं है। यह तो एक प्रकारसे आत्महत्याके ही समान है। यदि वास्तवमें मेरा भगवान्में प्रेम है तो उनसे मिले बिना मेरा जीवन रहना सम्भव नहीं। अभीतक तो प्राणोंके लिये चौदह वर्षकी अवधिका आधार था, किंतु अवधिके बीतनेपर यदि भगवान् न आवें तो समझना चाहिये कि मेरा भगवान्में प्रेम कहाँ है? वह तो दम्भ है। भरतजीके हृदयका भाव इस प्रकार होते ही वे विरहमें व्याकुल हो गये—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका विरह एक सागर है और इस विरहरूप सागरमें भरतका मन निमग्न हो गया यानी उनके प्राण जानेकी तैयारी हो गयी। उस समय, जैसे डूबते हुएके लिये नौका आ जाती है, ऐसे ही भरतके लिये हनुमान्‌जी महाराज ब्राह्मणका रूप धारण करके आ पहुँचे और विरहसागरमें डूबते हुए भरतको बचा लिया।'

यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि जैसे भरतजीके मनमें दृढ़ विश्वास था कि भगवान् निश्चय ही आयेंगे, उसी प्रकारका हमलोग विश्वास करें कि भगवान् हमें अवश्य मिलेंगे ही और जिस किसी प्रकारसे हो, उसके लिये रात-दिन प्रयत्न करके भगवान्‌को प्राप्त किये बिना हम नहीं रहेंगे तो हमें भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं। जब भगवान्‌ने हजारों आदमियोंको दर्शन दिये हैं, जिनकी कथाएँ भी शास्त्रोंमें आती हैं तो ऐसा नहीं हो सकता कि ये सब झूठी हों।

यदि बहुतोंको दर्शन हुए हैं तो यह निश्चय रखना चाहिये कि हमको भी अवश्य होंगे। यदि कहो कि हम पात्र नहीं हैं तो भगवान् पात्रको ही दर्शन देते हों, ऐसी बात नहीं है। पात्रको तो दर्शन होते ही हैं; किंतु भगवान्‌की दयापर भरोसा रखनेवाले पात्र-अपात्र, कुपात्र सभीको भगवान्‌के दर्शन होते हैं। पूर्वमें जिनको दर्शन हुए हैं, उनकी पहलेकी स्थिति देखिये। भक्त बिल्वमंगलकी पहलेकी स्थिति कैसी है? बालीको देखिये, जिसके लिये स्वयं भगवान् कहते हैं कि तू बड़ा पापी है, उसका भी उद्धार हो गया। अतः भगवान्‌के यहाँ गुंजाइश बहुत है।

भगवान्‌की जो सारे जीवोंपर परम दया है, उनका जो हृदयका परम भाव है, उससे हमको लाभ उठाना चाहिये। जो मनुष्य भगवान्‌के स्वभावको समझ लेता है, वह फिर भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रह सकता। श्रीशिवजी महाराज कहते हैं—

उमा राम स्वभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌का ऐसा उच्च कोटिका भाव है कि भगवान्‌के स्वभावको हम जान जायँ तो भगवान्‌की प्राप्ति होना कोई भी कठिन नहीं। भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है। कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌के शरण हो जानेपर उसको भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌के स्मरणमात्रसे सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है; किंतु जो उच्च कोटिके पुरुष होते हैं, वे तो पापोंके नाशके लिये भगवान्‌को नहीं भजते। वे यह समझते हैं कि भगवान्‌का भजन तो ऐसी महान् मूल्यवान् तथा महत्त्वपूर्ण वस्तु

है कि उसे पापोंके नाशके काममें कभी नहीं लगाना चाहिये। भगवान्‌के भजनसे पापोंको नाश करनेका जो काम है, वह तो हीरेसे कंकड़ फोड़ना है। हीरा-जैसी वस्तुसे क्या कंकड़ फोड़ने चाहिये? इसीलिये उच्च कोटिके पुरुष पापोंके नाशके लिये नहीं, किंतु भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही भजन करते हैं। भगवान्‌का प्रेम बहुत ही उच्च कोटिकी वस्तु है। कहाँ भगवत्प्रेम और कहाँ पापोंका नाश? पापोंका नाश तो भगवान्‌के नामके आभासमात्रसे अपने-आप ही हो जाता है। सूर्य जब उदय होता है, तब उसके सम्मुख अन्धकार रह ही नहीं सकता और ज्ञानके सम्मुख अज्ञान नहीं टिक सकता। इसी प्रकार भगवान्‌के भजनके प्रभावके सम्मुख पाप रह ही नहीं सकते। हम सूर्य भगवान्‌के दर्शनके लिये सूर्यकी आराधना करें तो हमको यह कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती कि हे प्रभो! आप अन्धकारका भी नाश कर डालिये। हम तो यह कहेंगे कि 'आप कृपापूर्वक हमें दर्शन दे दीजिये; इसके बाद यदि अन्धकार रह सके तो हमें कोई आपत्ति नहीं।' इसी प्रकार हम मनमें विश्वास करें कि पाप चाहे बने रहें और चाहे भगवान् उनका फल प्रसन्नतासे हमें भुगतावें, हम तो भगवान्‌से मिलना चाहते हैं। पापोंके फलस्वरूप यदि नरक हो तो कोई आपत्ति नहीं; हम नरकमें भी भगवान्‌के दर्शन ही चाहते हैं; बल्कि नरकमें दर्शन हों तो और भी अच्छी बात है, नारकीय सभी जीवोंका भी उद्धार हो सकता है। अपनेको तो भगवान्‌के दर्शनसे प्रयोजन है, पापोंके नाशसे नहीं।

यह भी विश्वास करना चाहिये कि हमारे पात्र होनेपर ही भगवान् दर्शन देंगे, ऐसी बात नहीं है। जो इस प्रकार समझते हैं

कि हम पात्र होंगे तभी भगवान् दर्शन देंगे तो उनको अपने निश्चयके अनुसार पात्र होनेपर ही भगवान्के दर्शन हो सकते हैं। पर भगवान्का तो यह नियम है कि जो मनुष्य यह समझता है कि भगवान् परम दयालु हैं, पात्रपर तो दया होती ही है, किंतु अपात्र-कुपात्रपर भी भगवान्की दया होती है; और जो ऐसा समझता है कि मेरी योग्यताकी ओर ध्यान देता हूँ तो मैं पात्र नहीं, किंतु जब भगवान्के स्वभावकी ओर देखता हूँ, भगवान्के विरदकी ओर देखता हूँ, भगवान्की दयाकी ओर दृष्टिपात करता हूँ, भगवान्के अहैतुक प्रेमकी ओर दृष्टि जाती है तो मैं ही नहीं, मुझसे भी अधिक जो जितने नीचे हैं, वे सभी भगवान्की प्राप्तिके अपात्र होते हुए भी पात्र हैं; इस प्रकार समझनेवाला मनुष्य अपात्र भी पात्र ही समझा जाता है। अतः भगवान्की दयाके प्रभावके सामने अपनेको कभी अपात्र न समझे।

जो इस प्रकार भगवान्की दयाके प्रभावको समझते हैं, जानते हैं, उनमें जो अपात्रता और कुपात्रताका दोष है वह भी भगवान्की प्राप्तिको रोक नहीं सकता। भगवान्के भरोसेपर जो यह निश्चित विश्वास कर लेता है कि मुझको अबकी बार भगवान्की प्राप्ति निश्चय ही होगी तो उसे भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

यदि कोई कहे कि 'आपका कहना तो ठीक है, विश्वास तो ऐसा ही करना चाहिये, किंतु मनुष्य अपने पापों और अवगुणोंकी ओर देखकर अपने प्रारब्ध (भाग्य) पर दोष लगाता है सो ठीक है; किंतु यह कठिनता तो उसने स्वयं ही पैदा कर ली है। उसको अपने भाग्यकी आड़ नहीं देनी चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिमें भाग्य बाधक

नहीं है। इस तत्त्वको जो नहीं समझते हैं, वे ही भाग्यको कोसते हैं कि हमारा भाग्य ही बुरा है। वस्तुतः भगवान्‌की प्राप्तिको बुरा प्रारब्ध रोक नहीं सकता। प्रारब्ध ही रुकावट डाल सकता तो प्रारब्ध-भोगके पहले भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती; किंतु ऐसी बात नहीं है।

कोई पूछे कि 'भगवान्‌की प्राप्ति कितने समयमें हो सकती है?' तो इसका यह उत्तर है कि भगवान्‌की प्राप्तिमें समयका नियम नहीं है। मनुष्य भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ जाय तो उसे क्षणमात्रमें भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। नहीं तो वर्षोंके वर्ष बीत जानेपर भी भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि यह प्रश्न हो कि 'भगवान्‌की प्राप्ति साधनके बलपर होती है या भगवान्‌की सुहृदताके बलपर अर्थात् भगवत्प्राप्ति साधनपर निर्भर है अथवा भगवान्‌के प्रेमी और दयालु स्वभावपर?' तो इसका उत्तर यह है कि जो मनुष्य ऐसा समझता है कि मेरे साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी, उसके लिये तो साधनपर निर्भर है; और जिसका यह विश्वास है कि भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं और उनमें मैं भी एक हूँ, उसके लिये भगवान्‌की प्राप्ति भगवान्‌की सुहृदतापर निर्भर है। भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

सुहृद् कहते हैं हेतुरहित (बिना ही कारण) दया और प्रेम करनेवालेको। भगवान्‌की अहैतुकी दया और प्रेम सभी प्राणियोंपर है; इसलिये भगवान् सबके परम प्रेमी और सुहृद् हैं। जो इस

प्रकार तत्त्वतः भगवान्‌को परम दयालु और परम प्रेमी समझकर उनकी शरण ले लेता है, वह भगवान्‌से वञ्चित नहीं रह सकता, वह परम शान्तिस्वरूप परमात्माको अवश्य प्राप्त कर लेता है । अतः भगवान्‌का यह कहना कि—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

—युक्तियुक्त और शास्त्रसम्मत है ।

भगवान् बड़े ही दयालु और प्रेमी हैं । वे किसीके दुःखको नहीं देख सकते एवं भगवान् जितना प्रेमका मूल्य चुकाते हैं उतना दुनियामें कोई चुका ही नहीं सकता । इस रहस्यको समझकर जो भगवान्‌के प्रति अपने-आपको समर्पण कर देता है, भगवान् अपने-आपको उसके प्रति समर्पण कर देते हैं । बतलाइये, इस प्रकार मङ्गलमय दयालु और प्रेमी भगवान्‌के सिवा दुनियामें और कौन है ?

जगत्‌में कहीं भी इस प्रकारका सौदा सम्भव नहीं है । एक कंगाल मनुष्य किसी करोड़पति धनीको अपना सर्वस्व समर्पण कर दे तो उसके बदलेमें करोड़पति धनी भी अपना सर्वस्व उसके प्रति अर्पण कर देगा, यह असम्भव-सी बात है । यह उदारता तो भगवान्‌के दरबारमें ही है । भगवान् समझते हैं कि 'आत्मा ही सबको सबसे बढ़कर प्रिय है, उस आत्मासहित अपने सर्वस्वको इसने मुझपर न्यौछावर कर दिया तो अब मैं इसको अपना सर्वस्व भी अर्पण कर दूँ तो भी मैं इसके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि पहले इसने अपना सब कुछ मेरे अर्पण कर दिया, तब उसके बाद मैंने अर्पण किया । पहले मैं इसके अर्पण करता तो मेरी विशेषता थी ।

अत: इसके बराबर देकर भी इसकी जो अर्पण करनेमें प्राथमिकता है, उसमें तो इसकी विशेषता है ही।' यों परम उदार भगवान् अपनेको भक्तका आभारी मानते हैं।

और भी एक बात है। जो मनुष्य भगवान्‌की सुहृदताके तत्त्व-रहस्यको समझ लेता है, वह स्वयं भी सुहृद् बन जाता है; क्योंकि भगवान्‌के स्वभावमें सुहृदता एक विशेष स्थान रखती है। अपना स्वभाव तो अपने ही अधीन है—इस प्रकार समझकर वह भगवान्‌के स्वभावके अनुसार ही अपने स्वभावको बना लेता है। फिर भगवान् उसके पास अपने-आप ही आते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌का भक्त है, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और स्वभावको जाननेवाला है एवं भगवान्‌पर उसकी परम श्रद्धा और पूर्ण विश्वास है। ऐसे प्रेमी भक्तसे भगवान् अलग कैसे रह सकते हैं और ऐसा वह प्रेमी भक्त भी भगवान्‌से अलग कैसे रह सकता है? भगवान् गीतामें कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

जो आकाशको सबमें देखता है और सबको आकाशमें देखता है, उसकी दृष्टिसे आकाश कभी ओझल हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आकाशकी-ज्यों जो सर्वत्र भगवान्‌को देखता है और भगवान्‌में

सबको देखता है, उसकी दृष्टिसे भगवान् कैसे ओझल हो सकते हैं और वह भी भगवान्‌से कैसे ओझल रह सकता है ? वे तो सदा-सर्वदा परस्पर एक-दूसरेको देखते ही रहते हैं । यह कितने महत्त्वकी स्थिति है । भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले प्रेमी भक्तसे भगवान् छिप नहीं सकते । तत्त्वकी प्रधानता है ज्ञानके मार्गमें और रहस्यकी प्रधानता है भक्तिके मार्गमें । भगवान् श्रीकृष्ण स्वाँग धरकर आते थे, इस रहस्यको गोपियाँ समझती थीं । गोपियाँ पहचान लेती थीं कि यह सखी नहीं, यह तो प्रेमी सखा माछ्म होते हैं । तब भगवान्‌का रहस्य खुल जाता और भगवान् प्रकट हो जाते ।

अब इस प्रश्नपर पुनः विचार करना है कि भगवान् शीघ्र-से-शीघ्र कैसे मिलें । जब मनुष्यकी यह इच्छा हो जाती है कि भगवान् शीघ्र-से-शीघ्र कैसे मिलें, तो बस,भगवान्‌के शीघ्र मिलनेका यही उपाय है कि उस इच्छाको तीव्रतम बनाया जाय । तीव्रतम इच्छा हो जानेपर भगवान् विलम्ब नहीं करते । जो भगवान्‌के वियोगको सहन करता है, उसीके लिये भगवान् विलम्ब करते हैं । हमलोग उनके वियोगको सहन कर रहे हैं, तभी भगवान् हमलोगोंसे मिलनेमें विलम्ब करते हैं । जब हमलोग भगवान्‌के विरहमें ऐसे व्याकुल हो जायँगे कि क्षण-भर भी नहीं रह सकेंगे, तब भगवान् भी हमलोगोंके पास आये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकेंगे । हमारी जो दशा हो जायगी, वही भगवान्‌की भी हो सकती है ।

किसीने पूछा—'हम तो भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होते हैं पर क्या भगवान् भी हमारे विरहमें व्याकुल होते हैं ?' हमने

उत्तर दिया—'व्याकुलकी भाँति ही हो जाते हैं।' वे बोले—'भाँति कैसे?' मैंने कहा—जैसे सीताजी भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो गयी थीं तो भगवान् भी सीताजीके विरहमें व्याकुल-से हो गये थे। हमलोगोंकी दृष्टिमें तो भगवान् सीताके लिये इतने व्याकुल हो गये थे कि वृक्षों और पशु-पक्षियोंसे पूछने लगे कि क्या मेरी सीताको आपलोगोंने देखा। बल्कि उन्मत्तकी तरह विलाप करने लगे। पर वास्तवमें भगवान् उन्मत्त नहीं होते, अधीर नहीं होते; अधीर और विकलकी भाँति प्रतीत होते हैं। भगवान्‌ने यह दिखला दिया कि जिस प्रकार मैं सीताके लिये व्याकुल हूँ, इसी प्रकार सीता मेरे लिये व्याकुल है। जब लक्ष्मणजीके शक्ति-बाण लगा, तब भगवान् लक्ष्मणजीके विरहमें व्याकुल होकर प्रलाप करने लगे। इस लीलासे भगवान् यह बतला रहे हैं कि मेरे वियोगमें लक्ष्मणकी ऐसी दशा हो सकती है जैसे कि लक्ष्मणके बिना मेरी। भगवान्‌की विरहव्याकुलतामें लक्ष्मणकी जो दशा होनी चाहिये, वैसी ही दशामें मग्न होकर भगवान् विलाप-प्रलाप करने लगे।

अतएव भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबसे बढ़कर उपाय है—भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा। तीव्र इच्छा होनेपर भगवान् नहीं रुक सकते। भगवान्‌से मिलानेमें भजन और ध्यानमें उतनी सामर्थ्य नहीं, जितनी मिलनकी तीव्र इच्छामें है। जब भगवान्‌के मिले बिना हमको चैन नहीं पड़ेगी, तब भगवान्‌को भी चैन नहीं पड़ेगी। ऐसी परिस्थितिमें दोनोंमें जो समर्थ होता है, उसीके लिये आकर मिलनेकी कानून अधिक लागू पड़ती है। इस विषयमें हम तो सर्वथा असमर्थ हैं, इसलिये भगवान्‌के पास जा नहीं सकते; पर भगवान् तो सब

प्रकारसे समर्थ हैं, वे तो हमारे पास आ ही सकते हैं। जैसे मेरा कोई मित्र सख्त बीमार है, अतः वह मेरे पास नहीं आ सकता, पर मेरा शरीर नीरोग हो तो मैं उसके पास जा सकता हूँ। उसने मेरे पास सूचना भेज दी कि मैं बीमार हूँ, इसलिये आपके पास पहुँच नहीं सकता, किंतु मैं आपसे मिलना चाहता हूँ। इसपर, यदि मैं थोड़ा भी प्रेम रखनेवाला होऊँगा तो अपने प्यारे प्रेमीके पास जानेकी जिस किसी प्रकारसे शक्तिके अनुसार चेष्टा करूँगा। परंतु चेष्टा करनेपर भी मेरा उससे मिलना निश्चित नहीं; क्योंकि हमलोग सर्वथा असमर्थ और प्रारब्धके अधीन हैं, किंतु भगवान् तो सर्वथा स्वतन्त्र, सर्वसमर्थ, परम दयालु और हेतुरहित प्रेम करनेवाले हैं। वे भला, एक क्षण भी कैसे रुक सकते हैं? परंतु हमलोगोंमें जो विश्वास और प्रेमकी कमी है, उसकी पूर्ति तो हमलोगोंको ही करनी चाहिये। हाँ, हम भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये भगवान्से याचना करें तो इस विषयमें भगवान् हमारी सहायता कर सकते हैं।

हम जैसे मान, बड़ाई, स्त्री, पुत्र, धन, शरीर और विषयभोग आदिसे प्रेम करते हैं, वैसे ही भगवान्से प्रेम करें तो भगवान् मिल सकते हैं। मान-बड़ाई आदि पदार्थ तो जड हैं, उनको हम ही चाहते हैं, वे हमको नहीं चाहते और उनके प्राप्त होनेमें प्रारब्धका भी सम्बन्ध है; इसलिये वे मिल भी सकते हैं और नहीं भी। किंतु भगवान् तो चेतन हैं, वे भजनेवालेको भजते हैं एवं इसमें प्रारब्ध भी बाधा नहीं दे सकता। अतएव जो भगवान्से मिलनेकी तीव्र इच्छा रखते हैं, उनसे भगवान् अवश्य मिलते हैं।

यदि हम यह विश्वास कर लें कि हमारा प्रेम थोड़ा भी होगा

तो भगवान् मिल जायँगे, तो थोड़े प्रेमपर भी परम दयालु और परम प्रेमी भगवान् हमारे दोषोंकी ओर न देखकर हमसे मिल सकते हैं। जो यह विश्वास कर लेता है कि भगवान् न तो पात्रता देखते हैं और न प्रेम ही देखते हैं, केवलमात्र यही देखते हैं कि यह मुझको चाहता है। बस, चाहनेवालेसे भगवान् मिलते हैं। अतः हमारे मनमें भगवान्से मिलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये। जैसे, एक लोभी मनुष्य रुपयोंको चाहता है। उसकी सारी चेष्टा रुपयोंके लिये ही होती है। उसके मनमें सदा-सर्वदा ही रुपये निवास करते हैं। वह वाणीके द्वारा रुपयोंकी रटन नहीं करता, किंतु उसके मनमें रुपयोंकी तीव्र इच्छा रहती है। अतः वह रुपयोंका सच्चा भक्त है। वह रुपयोंके लिये स्त्री-पुत्र, धर्म-कर्म, ईश्वर—सबको छोड़ सकता है। वह कहता है—'रुपये मिलने चाहिये, और चाहे कुछ भी न मिले।' इसी प्रकार जो भगवान्का सच्चा भक्त है, उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्के लिये ही होती हैं और उसे भगवान् अवश्य मिलते हैं। इसीलिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

'हे राम! जिस प्रकार कामी पुरुषको नारी प्यारी लगती है, लोभीको रुपया प्यारा लगता है, उसी प्रकार हे रघुनाथजी! मुझे निरन्तर आप प्यारे लगें।'

इस प्रकारका प्रेम होनेपर भगवान् अवश्य ही मिल जाते हैं। यदि भगवान्में श्रद्धा-विश्वास हो तो भी भगवान् मिल सकते हैं; क्योंकि भगवान्के मिलनेमें श्रद्धा-विश्वास प्रधान हेतु हैं। अतः जो

यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि आज रातमें भगवान् मुझे अवश्य मिलेंगे तो उसे उस रातमें नींद नहीं आयेगी; क्योंकि वह प्रतिक्षण भगवान्‌के मिलनेकी प्रतीक्षा करता रहेगा कि भगवान् अब आये, एक घड़ीमें आये, एक पलकमें आये, वे आये, ये आये। यदि नींद आ जाती है तो यह विश्वास कहाँ कि आज रातमें भगवान् मिलेंगे; क्योंकि भगवान् रातमें कब मिलेंगे, यह तो कोई नियम नहीं है। अतः उसे स्वाभाविक ही प्रतिक्षण प्रतीक्षा बनी रहनी चाहिये। जैसे रात्रि अधिक होनेपर पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी बाट जोहती रहती है, प्रतीक्षा करती रहती है, उससे भी बढ़कर वह भक्त प्रतीक्षा करता रहता है। उस स्त्रीको तो नींद आ भी जाती है; क्योंकि कभी पति आते हैं और कभी नहीं आते हैं। किंतु भगवान्‌के भक्तको नींद नहीं आती; क्योंकि वह प्रतिक्षण भगवान्‌से मिलनेकी प्रतीक्षा करता रहता है और वह भगवान्‌की पूजा तथा सत्कारके लिये तैयारी रखता है।

जैसे अपने घरपर कोई उच्च अधिकारी या कोई सम्मान्य पुरुष या कोई मान्य अतिथि अथवा कोई मित्र आता है तो उसके आनेके पहले ही हम उसके लिये उपयोगी पदार्थोंको तैयार रखते हैं, उसी प्रकार भक्त भगवान्‌की पूजा करनेके लिये चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि सारी सामग्री तैयार रखता है और उसके मनमें बड़ा भारी उत्साह तथा उमंग रहती है। जैसे पतिव्रता स्त्रीको यह सूचना मिल जाती है कि आज रातमें उसके पति पहुँचनेवाले हैं तो उसे कितना उत्साह हो जाता है, उससे भी बढ़कर उत्साह भगवत्प्रेमीको रहता है; क्योंकि भगवान्-जैसी मूल्यवान् वस्तु दुनियामें और कोई भी नहीं

है। भगवान्‌के मिलनेके लिये तो केवल तीव्र इच्छा होनी चाहिये, अन्य साधनकी कोई आवश्यकता नहीं है। साधनकी जितनी आवश्यकता होती है, वह इच्छा अपने आप ही करा देती है।

जब मछलीको जलसे बाहर निकाल दिया जाता है, तब मछलीको जलके संयोगकी तीव्र इच्छा रहती है, वह जलके बिना तड़पती है और जलको भूलती नहीं। इसी प्रकार भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा और तड़पन हो तो भगवान्‌को बाध्य होकर उसी समय आना पड़े। इतना न हो और चातककी भाँति भी नियम और लालसा हो, तो भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। चातकका यह नियम है कि वह भूमिपर पड़े जलको पीता ही नहीं, चाहे गङ्गाजल ही हो। उसके तो एक ही टेक है कि मैं आकाशसे बरसनेवाले जलका ही पान करूँगा। अतः भगवान् उसके लिये भी आकाशसे जल बरसाकर उसके जीवनकी रक्षा करते हैं; किंतु चातककी दशा कैसी होती है? जब आकाशमें बादल गरजते हैं तो वह मुग्ध हो जाता है। यदि आकाशसे ओले बरसते हैं, पत्थर बरसते हैं, उसकी पाँखें टूट जाती हैं तो भी वह वहाँसे हटता नहीं और उस वर्षाके जलकी बूँदके लिये व्याकुल हुआ तरसता रहता है। इसी प्रकार भक्तके मनमें भगवान्‌से मिलनेकी व्याकुलता हो तो अवश्य ही भगवान् उसके लिये बरसेंगे यानी प्रकट होकर मिलेंगे। इतना भी यदि न हो तो हमें चकोर पक्षीकी तरह होना चाहिये। जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर चकोर पक्षी एकटक ध्यान लगा देता है, इसी प्रकार हम भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हो जायँ, तो भी भगवान्‌को बाध्य होकर आना पड़े।

हमलोगोंको सुतीक्ष्णजीकी भाँति भगवान्‌के प्रेमपूर्वक ध्यानमें तन्मय होना चाहिये। जब सुतीक्ष्णजी भगवान्‌के प्रेममें मस्त हो गये, तब भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। तब सुतीक्ष्णजी भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो गये। इससे भगवान्‌को बाध्य होकर प्रत्यक्ष दर्शन देने पड़े। गोपियोंकी तरह भगवान्‌में प्रेम हो जाय तब तो फिर बात ही क्या है?

अतएव भगवान्‌में हमारा अनन्य प्रेम और अतिशय श्रद्धा-विश्वास होना चाहिये। भगवान् देखते रहते हैं कि इसके हृदयमें कब प्रेम हो और कब मैं दर्शन दूँ। हम मुँहसे कहते हैं कि हमारा प्रेम और विश्वास है, किंतु भगवान् तो अन्तर्यामी ठहरे। हृदयमें अनन्य प्रेम और विश्वास होनेपर फिर भगवान्‌के प्रकट होनेमें विलम्ब नहीं होता। जैसे—जब बिजली बिल्कुल फिट हो जाती है तो स्विच दबानेके साथ ही रोशनी हो जाती है, इसी प्रकार प्रेम और विश्वास होनेके साथ ही भगवान् प्रकट हो जाते हैं। फिर सारी अपात्रता नष्ट हो जाती है, वह फिर कुपात्र नहीं समझा जाता। केवलमात्र एक सच्चे प्रेम और विश्वासकी ही आवश्यकता है।

हमलोग सत्सङ्गमें जाते हैं, रहते हैं, साधन करते हैं और यही भाव रहता है कि 'ठीक है, साधन करो, कभी-न-कभी भगवान् मिल ही जायँगे।' पर यह विश्वास नहीं होता कि भगवान् अभी तुरंत ही मिलनेवाले हैं। जिसके हृदयमें यह भाव है कि हमारी करतूतोंको देखते हमें भगवान्‌का मिलना कठिन है, उसके लिये भगवान्‌का मिलना कठिन है। किंतु जिसके हृदयमें यह भाव है कि 'भगवान्‌का

स्वभाव बहुत ही कोमल है, वे मेरे अवगुणोंको नहीं देखते, वे अपनी ओर देखकर मुझे अवश्य मिलेंगे' उसको अवश्य मिलते हैं। जिसको यह विश्वास हो जायगा कि भगवान् हमको अवश्य मिलेंगे तो उसके चाव चढ़ जायगा, वह क्षण-क्षणमें भगवान्‌की प्रतीक्षा करता रहेगा और क्षण-क्षणमें उसका जीवन बदलता रहेगा, उससे उसके उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता रहेगा।

संसारमें जितने पदार्थ हैं, उन सबके मिलनेके सम्बन्धमें संशय है; क्योंकि उन सबका मिलना प्रारब्धपर निर्भर करता है और वे सब जड हैं; किंतु चिन्मय भगवान्‌के मिलनेमें प्रारब्ध बाधक नहीं है तथा भगवान्‌के समान न तो कोई दयालु है और न कोई प्रेमी है। इसलिये भगवान्‌के मिलनेमें शङ्का करना तो भगवान्‌के स्वभाव और प्रभावको न जानना ही है। वास्तवमें विचार किया जाय तो भगवान्‌का मिलना जितना सुगम है, उतना संसारमें किसीका भी मिलना सुगम नहीं है। जितने चराचर प्राणी हैं, उनमेंसे तो कोई भी भगवान्‌के समान स्वभाववाला है नहीं और जितने जड पदार्थ हैं, उनमें मिलनेकी इच्छा भी नहीं हो सकती। जड पदार्थ तो प्रारब्धसे ही मिलते हैं।

यदि सारी दुनियाकी दया इकट्ठी कर ली जाय तो दयासागर भगवान्‌की दयाकी एक बूँदके समान भी शायद ही हो। ऐसे वे परम दयालु हैं। वे दया, प्रेम आदि गुणोंके सागर हैं। हमलोगोंमें तो नाममात्रका प्रेम है, भगवान्‌में अनन्त प्रेम है। भगवान् प्रेमके तत्त्व-रहस्यको जितना जानते हैं, उनके सम्मुख हमलोग कुछ भी नहीं जानते। ऐसे भगवान्‌को हम मिलनेमें विलम्ब करनेवाला मानें

तो हमारी मूर्खता है। भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, वह हमारे प्रेम और विश्वासकी कमीके कारण ही हो रहा है।

दो व्यक्ति परस्पर प्रेमी हैं। एक साधारण प्रेमी है और एक विशेष। उनमें साधारण प्रेमवाला तो प्रेमास्पदके बिना रह सकता है, किंतु जो प्रेमके तत्त्व और रहस्यको विशेषरूपसे जाननेवाला है, वह कैसे रुक सकता है और कैसे अपने प्यारेसे मिले बिना रह सकता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् और अन्तर्यामी हैं, अतः उनके मिलनेमें जो विलम्ब होता है, वह केवल हमारे श्रद्धा-प्रेमकी कमीसे ही होता है।

अतएव हमलोगोंको यह भाव बढ़ाना चाहिये कि भगवान् हैं और उनसे जो मिलना चाहता है, उससे वे मिलते हैं। भगवान् श्रद्धा-प्रेमके सिवा और कुछ भी नहीं देखते। केवल भक्तके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये। जैसे प्यासा आदमी जल चाहता है, उसे जल तो कभी मिले या न भी मिले; क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रारब्धसे है। पर भगवान् तो तीव्र इच्छा होनेपर अवश्य मिलते हैं। जब मनुष्यको जलकी प्यास लगती है, तब उसे बार-बार जल याद आता है। वह जलको जानकर याद नहीं करता, वह प्यासके कारण जलको भुला नहीं सकता। इसी प्रकार जब भगवान्‌की प्यास लगेगी यानी उनसे मिलनेकी तीव्र इच्छा होगी, उस समय भगवान् अपने-आप ही याद रहेंगे। जलकी इच्छावाला प्यासा आदमी जिस प्रकार जलको भजता है, इसी प्रकार भगवान्‌का जो भजन करता है उसे भगवान् अवश्य मिलते हैं। जैसे भूखे

आदमीको बार-बार अपने-आप ही भोजनकी स्मृति होती है, इसी प्रकार जब भगवान्के मिलनेकी भूख लगेगी, तब भगवान्की स्मृति अपने-आप ही होगी। पर जब भगवान्के मिलनेकी भूख ही नहीं है, तब भगवान् कैसे मिलें ? जिसे ज्वर हो जाता है उसे ज्वरके कारण भूख नहीं लगती। यहाँ ज्वर क्या है ? हमलोगोंमें जो नास्तिकता, अश्रद्धा, विषयासक्ति, संशय और पापोंके कारण मनकी मलिनता है, यही ज्वर है। इसीके कारण भूख नहीं लगती। जब मनुष्यको भूख नहीं लगती तो वह ओषधिका सेवन करता है, चूर्ण खाता है या और कोई पाचक वटी लेता है, तब भूख लगती है। इसी प्रकार यहाँ सत्पुरुष वैद्य हैं और शास्त्र आयुर्वेदकी पुस्तकें हैं। ओषधि है भगवान्की भक्ति यानी भगवान्के नामका जप, भगवान्के स्वरूपका ध्यान और भगवदर्थ कर्म। जिस प्रकार ओषधिके सेवनसे भूख लग सकती है, उसी प्रकार भगवान्का भजन-ध्यान और भगवदर्थ कर्म करनेसे भूख लगती है— अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होती है। भजन-ध्यानके अनुष्ठानमें रुचि होती है सत्सङ्गसे, अथवा सत्सङ्गके अभावमें सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे। भगवान्के गुण, प्रभाव और तत्त्व-रहस्यकी बातोंको यदि हम भगवान्के भक्तोंसे सुनें, शास्त्रोंमें पढ़ें और उनपर विश्वास करें तो फिर हम भगवान्से मिले बिना नहीं रह सकते। हम जबतक भगवान्का वियोग सहन कर रहे हैं, तभीतक भगवान् आनेमें विलम्ब कर रहे हैं।

अतएव हमलोगोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय और भगवदर्थ कर्म निष्कामभावसे निरन्तर करते रहना चाहिये।

भगवन्नाम-महिमा

भगवान्‌के नामकी महिमा अपार है, अपरिमित है। वाणीके द्वारा उसकी महिमा स्वयं भगवान् भी नहीं बतला सकते, तब दूसरा तो बतलायेगा ही क्या? जैसे खेतमें बीज किसी भी प्रकारसे बोया जाय, उससे लाभ-ही-लाभ है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामका जप किसी भी प्रकारसे किया जाय, उससे लाभ-ही-लाभ है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(६।२।१४-१५)

'महापुरुष जानते हैं कि चाहे पुत्रादिके संकेतसे हो, हँसीसे हो, स्तोभ (गीतके आलापके रूप) से हो और अवहेलना या अवज्ञासे हो, वैकुण्ठभगवान्‌का नामोच्चारण सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य ऊँचे स्थानसे गिरते समय, मार्गमें पैर फिसल जानेपर, अङ्ग-भङ्ग हो जानेपर, सर्पादिद्वारा डँसे जानेपर, ज्वरादिसे संतप्त होनेपर अथवा युद्धादिमें घायल होनेपर विवश होकर भी 'हरि' इतना ही कहता है, वह नरकादि किसी भी यातनाको नहीं प्राप्त होता।'

फिर यदि नामका जप मनसे किया जाय तो उसकी बात ही क्या है? क्योंकि मानसिक जपकी विशेष महिमा बतलायी गयी है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥

(२ । ८५)

'विधियज्ञ (होम) से उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानस-जप हजार-गुना श्रेष्ठ है ।'

नामकी महिमा सभी युगोंमें है, किंतु इस कलिकालमें तो इसकी महिमा और भी विशेष है । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

(विष्णुपु० ६ । २ । १७)

'सत्ययुगमें ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे, द्वापरमें पूजा करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें केवल श्रीकेशवके कीर्तनसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है ।'

नामका जप यदि ध्यानसहित किया जाय तो सारे विघ्नोंका नाश होकर आत्माका उद्धार हो जाता है । योगदर्शनमें कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः । (१ । २७)

'उस परमात्माका वाचक (नाम) ओंकार है ।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (१ । २८)

'उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना यानी स्वरूप-का चिन्तन करना चाहिये ।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

(१ । २९)

'ऐसा करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(८। १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग-कर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त हो जाता है।'

श्रीभगवान्के अनेक नाम हैं। उनमेंसे किसी भी नामका जप किसी भी कालमें, किसी भी निमित्तसे कैसे भी क्यों न किया जाय, वह परम कल्याण करनेवाला है। यदि भगवान्के नामका जप गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और अर्थको समझकर श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक निष्काम-भावसे निरन्तर किया जाय, तब तो तत्काल ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि भगवान्के भजनके प्रभावसे साधकको भगवान्के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, जिससे भगवान्की प्राप्ति होती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने-वाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीभगवान् बाहर-भीतर सब जगह व्यापक हैं, परिपूर्ण हैं; किंतु अज्ञानके कारण नहीं दीखते। वह अज्ञान भी भगवान्‌के नाम-जपके प्रभावसे नष्ट हो जाता है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

भगवन्नाम-जपके प्रभावसे सारे पापोंका नाश होकर पापी भी परमगतिको प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जबहिं नाम हिरदै धर्यो भयो पाप को नास।
मानो चिनगी अग्नि की परी पुरानी घास॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥

फिर धर्मात्माकी तो बात ही क्या है? द्रौपदी एवं गजेन्द्रके-जैसा प्रेम होनेपर तो सकाम भजनसे भी भगवान् मिल सकते हैं, फिर निष्काम भजनसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। जो मनुष्य हर समय भगवान्‌के नामका स्मरण करता है, उसके तो भगवान् अधीन ही हो जाते हैं। श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌के सभी नाम समान हैं। चाहे जिस नामका जप किया जाय, सभी कल्याण करनेवाले हैं। जैसे पानी, जल, नीर, अप्, वाटर आदि जलके ही विभिन्न नाम हैं और उन सबका एक ही अर्थ है। इसी प्रकार भगवान्‌के ॐ, हरि, वासुदेव, राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, शिव, महादेव आदि सभी नामोंका एक ही अर्थ है। अतः किसी भी नामका जप करनेपर

भगवत्प्राप्ति हो सकती है। संसारमें भगवन्नाम-जपके समान कोई भी साधन नहीं है। ज्ञान, ध्यान, यज्ञ, तप, योग आदि सभी साधन नाम-जपकी अपेक्षा कठिन हैं। अतः इन सब बातोंको सोचकर मनुष्यको नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन करना चाहिये। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(९।३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

वस्तुतः संसारमें भगवान्‌के समान कोई भी पदार्थ नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्‌के एक अंशमें है। जो इस तत्त्वको जान लेता है, वह एक क्षण भी भगवान्‌को नहीं भूल सकता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(१५।१९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि भगवान्‌के शरण होकर भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और अर्थको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे, ध्यानसहित, गुप्तरूपसे भगवान्‌के नामका मानसिक जप नित्य-निरन्तर करें।

ब्राह्मी स्थिति

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव बलवान् है। इसलिये अपना जो भाव है, उसको उत्तरोत्तर खूब बढ़ाना चाहिये। कैसा भी पापी और नीच क्यों न हो, यदि मरनेके समय भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उच्च कोटिका निष्काम भाव हो जाय तो उसका निश्चित कल्याण हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाय, तब तो कहना ही क्या है। गीतामें बतलाया है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

(२।७२)

एषा—ऊपर जो बतलायी गयी है, वह ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपमें जो स्थिति है, वह ब्राह्मी स्थिति। इसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर मोहको प्राप्त नहीं हो सकता। अन्तकालमें भी यह स्थिति हो जाय तो फिर वह निर्वाणब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह ब्राह्मी स्थिति कैसी बतलायी गयी है?—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(२।६९)

जो सारे भूतोंकी निशा—रात्रि है, उसमें संयमी जागता है। अभिप्राय यह है कि उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें संयमी—मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें किये रखनेवाला पुरुष

जागता है, वह उस परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है। इससे अन्य जो विषयासक्त संसारी मनुष्य सोये हुए हैं यानी सोये हुएके समान हैं, उन लोगोंको इस बातका ज्ञान नहीं है कि परमात्मा क्या चीज है, परमात्माका स्वरूप कैसा है। अतः वे सोये हुएके तुल्य हैं। जैसे गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषको बाहरका कोई ज्ञान नहीं रहता, इसी प्रकार जो अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ है, वह परमात्म-विषयक ज्ञानसे सर्वथा वञ्चित है।

'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।'

जिस संसारके विषय-भोगोंमें संसारी मनुष्य जागते हैं यानी संसारके विषय-भोगोंका अनुभव करते हैं, वह ज्ञानी मुनिकी रात्रि है। जैसे रात्रिके शयनके समयमें गाढ़ निद्रावाले पुरुषको बाह्य संसारका ज्ञान नहीं रहता, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित होनेपर समाधिस्थ ज्ञानी मुनिको संसारका ज्ञान नहीं रहता। अभिप्राय यह है कि जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती। जो परमात्मामें तन्मय हो जाता है, उसीमें तन्मय होकर उसको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें संसारका सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे गाढ़ निद्रामें शयन करते हुए पुरुषके लिये इस संसारका अभाव हो जाता है, ऐसे ही उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती; फिर भी जबतक शरीर है, तबतक प्रारब्धके अनुसार उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा कर्म हो भी सकते हैं (गीता ४। १९)। इस प्रकारकी जो स्थिति है, वह अन्तकालमें भी हो जाय तो वह पुरुष निर्वाण-ब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसलिये हरेक माता-बहिनोंको और भाइयोंको उस परमात्मामें

अपनी गाढ़ स्थिति हो, इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु इससे मनुष्यको यह भरोसा नहीं रखना चाहिये कि मरनेके समयमें ही अपना भाव ठीक कर लेंगे। प्रथम तो मरनेतककी जोखिम उठाना मूर्खता है। फिर मरनेके समयमें अपने अधिकारकी बात नहीं रहती कि हम अपनी स्थितिको उच्च कोटिकी बना लें। यह भाव तो अपने मनमें रखनेका है कि यदि अचानक मृत्यु निकट आ जाय तो उस समय सावधानीपूर्वक अपनी स्थितिको परमात्मामें कर लेना चाहिये। शरीरका क्या भरोसा है? देखा जाता है कि क्षणमात्रमें ही हार्ट फेल होकर मनुष्यकी अचानक मृत्यु हो जाती है। उसको यह थोड़े ही पता रहता है कि मैं अभी मरनेवाला हूँ। ऐसी घटना यदि हमलोगोंको प्राप्त हो तो क्या आश्चर्य है। यह शरीर तो क्षणभङ्गुर और नाशवान् है ही। कालका कोई भरोसा नहीं है। इसलिये मनुष्यको पहलेसे ही सावधान होकर रहना चाहिये। यह नियम है कि मृत्युके समय जिस-जिस भावसे भावित होकर मनुष्य जाता है, उसी-उसी भावको प्राप्त होता है (गीता ८। ६)। इसलिये हर समय परमात्माकी स्मृति रखनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। सब प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ सब कालमें स्मरण करना मुख्य है और युद्ध करना

गौण है। इसलिये निष्कामभावसे हर समय भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये।

हर क्रियामें अपना भाव सदा उच्च कोटिका (निष्काम) रखना चाहिये। कोई चाहे भक्तिका साधन करे, चाहे योगका, उसमें भाव उत्तम होनेसे ही उसका कल्याण हो सकता है। एक भाई यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है, सेवा करता है, पूजा करता है, जप करता है, संयम करता है, जो कुछ भी साधन करता है, पर सकाम भावसे करता है तो उसका जो फल मिलेगा, उससे उसकी कामनाकी सिद्धि ही हो सकती है; सो भी यदि भगवान् उसके लिये उसमें हित समझेंगे तब। हित नहीं समझेंगे तो देवता-लोग भले ही उसकी कामनाकी पूर्ति कर दें, पर भगवान् तो उसका हित समझेंगे, तभी उसकी कामनाकी पूर्ति करेंगे। भगवान् सब प्रकारसे हमलोगोंकी रक्षा करते रहते हैं। किसी भी प्रकारसे इसका हित हो, वही चेष्टा भगवान्‌की रहती है, इसलिये हमलोगोंको प्रत्येक शुभ क्रियामें उच्च कोटिका अर्थात् निष्कामभाव बनाना चाहिये।

भगवान्‌की और शास्त्रोंकी तो हमलोगोंपर दया है ही तथा सत्-शास्त्र हमलोगोंको सुगमतासे मिल भी रहे हैं एवं महात्माओंकी भी दया है ही, वे तो सदा ही सबका हित चाहते हैं। केवल अपनी ही—अपने-आपपर दयाकी कमी है। इसलिये अपना भाव उच्च कोटिका बनाना चाहिये। अपनी सारी ही क्रिया शास्त्रोक्त होनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अपना भाव उच्च कोटिका हो जायगा तो क्रिया तो अपने-आप ही उच्च कोटिकी होने लगेगी। जब हमारा निष्काम भाव हो जायगा, तब हमारेद्वारा

होनेवाली सारी ही क्रियाएँ निष्काम समझी जायँगी। बाहरसे देखनेमें कोई क्रिया दूसरोंको सकाम भी प्रतीत हो तो कोई हानि नहीं; वास्तवमें जो निष्काम है, वह निष्काम ही है, वह बड़ा उच्च कोटिका भाव है।

निष्कामका अभिप्राय यह है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थसे सर्वथा रहित होना अर्थात् किसी भी प्रकारसे, किसीसे भी किंचिन्मात्र भी अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा न रखना। बाहरमें कोई व्यक्ति यदि हमारी न्याययुक्त सेवा करना चाहता है और उसको उसके सुखके लिये, उसके संतोषके लिये हम स्वीकार भी कर लेते हैं तो यह भी हमारा निष्कामभाव ही है। निष्कामभावका रहस्य हमलोग समझते नहीं हैं। यदि निष्कामभावके तत्त्व और रहस्यको समझ जायँ तो साधनकालमें भी इतनी शान्ति और प्रसन्नता—आनन्द रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है।

'निष्कामभाव होना कठिन है'—यह बात कहीं नहीं लिखी है। आप खूब ध्यान देकर देखें कि हमें यह क्यों कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें निष्कामके रहस्यको हमलोग समझे नहीं हैं, इसीसे वह कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि हमलोगोंके हृदयमें, मनमें, वाणीमें, अणु-अणुमें सकाम भाव छाया हुआ है। जब हृदयमें निष्कामभाव होता है और उसके अनुसार उसकी क्रिया होती है, तब उस क्रियाको देखकर दूसरे लोग भी मुग्ध हो जाते हैं कि देखो, यह कैसा स्वार्थरहित परोपकारी है, यह कैसा निष्कामी पुरुष है। दूसरे लोग तो उसकी क्रियासे केवल अनुमान ही करते हैं, वे वास्तवमें भावको समझते नहीं हैं। वे बाहरकी क्रियामें स्वार्थ नहीं देखते हैं, इसीसे उसको निष्काम मानते और समझते हैं; किंतु जिसके हृदयमें वस्तुतः

निष्कामभाव होता है, उसके चित्तमें जैसे समुद्रमें लहरें आती हैं, वैसे ही शान्तिकी, आनन्दकी और ज्ञानकी लहरें उठा करती हैं।

जो मनुष्य संसारमें निष्कामभावका केवल दिखाऊ बर्ताव करता है, वह वास्तवमें निष्काम नहीं है; बल्कि दिखावटी झूठा निष्काम भाव तो एक प्रकारसे कलङ्क है। वह प्रकारान्तरसे सकामभाव ही है; वह कहीं-कहीं तो दम्भका रूप धारण कर लेता है, जो पतनका हेतु हो जाता है। जब वास्तवमें हृदयमें कोई भी कामना नहीं रहती, तब उसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकार-रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है।'

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २। ७०)

'जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा-वाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।'

निष्कामी पुरुष अपने निष्कामभावसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उस परमात्माके स्वरूपमें जो स्थिति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति कही जाती है। ऐसी ब्राह्मी स्थितिवाला पुरुष, किस प्रकारसे परमात्मामें स्थित होता है, उसके लिये समुद्रकी उपमा देकर भगवान् कहते हैं कि जैसे समुद्र 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्'—अपने-आपमें ही जलके द्वारा परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित होकर जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, वह उन विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपसे परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है। ब्रह्मकी ही महिमा उसकी अपनी महिमा है, इसलिये वह अपनी महिमामें अचल है। जैसे समुद्र अपनी महिमामें अचल स्थित है, ऐसे ही वह है। समुद्रमें सारी नदियोंका जल प्रवेश करता है, किंतु वह विचलित नहीं होता, उसमें किसी प्रकारका विकार भी नहीं होता। सारी नदियोंका जल प्रवेश होनेपर भी न तो कोई उसमें वृद्धि होती है और न कोई क्षोभ ही होता है। इसी प्रकार जो परमात्माके स्वरूपमें स्थित है, वह प्रारब्धके अनुसार संसारके सारे भोगों—पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी विचलित नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्ममें स्थित है और उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके आनन्दसे परिपूर्ण है तथा उसीमें अचल स्थित है। जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो परमात्मामें स्थित होकर परमात्मामें ही तन्मय हो चुका है, उसके ज्ञानका, शान्तिका, आनन्दका पार नहीं है, वस्तुतः वह स्वयं ही ज्ञानमय, शान्तिमय, आनन्दमय है। संसारके विषयभोगोंकी कामनावाले पुरुषको कभी शान्ति नहीं मिलती। इससे समझना चाहिये कि परमात्मविषयक जो शान्ति,

आनन्द और ज्ञान है, वह कितना उच्च कोटिका है।

मनुष्यको साधनकालमें भी परमात्मविषयक अत्यन्त विलक्षण शान्ति, आनन्द और ज्ञान मिलता है; तब जो उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है? अतएव इस रहस्यको जान लेनेपर निष्काम होकर परमात्माके स्वरूपमें नित्य निरन्तर स्थित रहना, यह कोई बहुत कठिन नहीं है। हमलोगोंको जो कठिन प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि हमलोग उसके तत्त्व, रहस्य और भावको समझे नहीं हैं। वस्तुतः यह जो संसार दिखायी देता है, इससे हमारे आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है। इसके साथ वस्तुतः सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है? यह संसार तो जड है और आत्मा चेतन है। चेतन और जडकी एक जाति नहीं। इसलिये जड और चेतनका वास्तविक सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता।

संसारके किसी पदार्थका त्याग करनेपर हम कहते हैं कि हमने अमुक वस्तुका त्याग कर दिया, किंतु जब उपर्युक्त बात समझमें आ जाती है, तब यह जान पड़ता है कि हमने यथार्थमें कोई त्याग नहीं किया है। दूसरोंकी चीजको जो हमने अपनी मान रक्खा था कि यह चीज है और हमारी है, केवल इस मान्यताका त्याग किया है। यह वास्तवमें न्याय ही है। उस मान्यताको पकड़े रहनेमें तो प्रत्यक्ष ही हमारा पतन है। वास्तवमें तो वह चीज है ही नहीं, बिना हुए ही प्रतीत होती है और यदि यह मान भी लें कि वह है, तो उसको अपनी मानना तो बिल्कुल ही अज्ञता है। दूसरोंकी चीजको अपनी न मानकर जब हम दूसरोंकी मान लेते हैं, तब हमें प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है।

चोर किसी दूसरेकी चीजको अपनी मान बैठता है और उसपर अपना अधिकार जमा लेता है तो उसको घोर दण्ड मिलता है। इसी प्रकार संसारकी चीजोंको जो अपनी मान बैठता है, वह भी एक प्रकारसे चोर ही है और उसको दण्ड होना भी उचित ही है। इस बातको खूब समझ लेना चाहिये। उदाहरणके लिये मान लें, मेरे पास लाख रुपये हैं और मैं सत्तर सालकी उम्रका हो गया हूँ तो यह तो है ही नहीं कि मैं सैकड़ों वर्षतक जीता ही रहूँगा। अतः अपने शरीर-निर्वाहके लिये कम-से-कम जितने रुपयोंकी आवश्यकता हो, उतने रखकर शेषको मैं परमात्माके ही काममें लगा दूँ तो यह सर्वथा उचित है। हरेक मनुष्यके लिये यही बात होनी चाहिये। साथ ही यह सोचना चाहिये कि यदि मैं दस वर्ष और जीऊँ और दो हजार रुपये सालाना अपने शरीरके लिये लगाऊँ तो बीस हजार रुपये पर्याप्त हैं। इसलिये अस्सी हजारको रोककर रखना मूर्खता ही नहीं, एक प्रकारसे चोरी ही है; क्योंकि यह असलमें दूसरोंके स्वत्वपर अपना अधिकार जमाना है।

दूसरे, यदि यह कहें कि यह चीज तो है किंतु मेरी नहीं है, भगवान्‌की है; तो फिर जब भगवान्‌के काममें लगानेका मौका आये, तब उसे आँख मूँदकर लगा देना चाहिये। वास्तवमें जिसका यह भाव है, उसको रुपये लगानेमें उत्तरोत्तर प्रसन्नता होनी चाहिये। परंतु यदि भगवान्‌की सेवामें रुपया लगाते समय मनमें चिन्ता, शोक, भय होता है या उसमें रुकावट होती है तो समझना चाहिये कि उसका भाव ठीक नहीं है; क्योंकि जिस चीजको हम अपनी नहीं मानते हैं, वह जिस मालिककी चीज है, उसको दी जानेमें तो हमें

प्रसन्नता ही होनी चाहिये। कोई अमानतके रूपमें पाँच हजार रुपयेका गहना हमारे पास रख जाय और वह वापस आकर हमसे अपना गहना माँगे और उसकी चीज हम उसे सौंप दें तो हमें कितनी प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार चित्तमें जब यह अनुभव हो जाता है कि यह भगवान्‌की चीज है, मैं केवल इसकी रक्षा या सेवा कर रहा हूँ, तब यदि वह चीज भगवान्‌के काममें लग जाती है तो उसे बड़ी भारी प्रसन्नता होती है। मन भी हल्का हो जाता है। यह बात बिल्कुल प्रत्यक्ष है। आप करके देख सकते हैं।

वास्तवमें ये संसारके जो कुछ भी पदार्थ हैं, सब भगवान्‌के हैं। हमारा कोई भी अधिकार नहीं कि हम अपने स्वत्वसे अधिक वस्तुओंको रोक रक्खें। यह तो एक साधारण न्याययुक्त बात है। किंतु जो उच्च कोटिका साधक है, उसकी तो बात ही निराली है! उसके लिये तो संसारके सभी विषय-भोग मल-मूत्रके समान हैं। हम जब मल-मूत्रका त्याग करते हैं, तब क्या कोई गर्व करते हैं कि हमने बड़ा त्याग किया है? बल्कि उनके त्यागसे यह सोचकर प्रसन्नता और सुख होता है कि विकार निकल गया। इसी प्रकार संसारके इन विषय-भोगरूप पदार्थोंके त्यागसे सुख होना चाहिये। कोई भी आकर जब हमसे कहता है कि हमारी इस वस्तुको आप धरोहररूपमें रख लें तो उसे हम मनसे रखना नहीं चाहते; किंतु किसीके भलेके लिये, अथवा संकोचमें पड़कर हमें वह चीज रखनी पड़ती है और फिर जब स्वयं वह आकर अपनी वस्तुको माँग लेता है तब उसको वह वस्तु हम इस भावसे देते हैं कि मानो सिरपरसे उसका ऋण उतर गया। यह धरोहर भी एक प्रकारसे सिरपर ऋण ही है।

ये संसारकी ऐश्वर्य, धन, मकान आदि जो वस्तुएँ हैं, इनमेंसे

कोई भी वस्तुतः हमारी नहीं है। औरोंकी तो बात ही क्या, यह शरीर भी हमारा नहीं है। गम्भीरतासे विचारें तो ये सभी पदार्थ और शरीर वास्तवमें परमात्माके हैं, या यों कहें कि प्रकृतिके हैं। यह बात प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि जो मनुष्य मरकर चला जाता है, उसका यह स्थूल शरीर हमारे देखते-देखते जलकर भस्म हो जाता या कब्रमें मिट्टी हो जाता है और प्रकृतिमें मिल जाता है। फिर यह शरीर हमारा कैसे हुआ? जब शरीर ही हमारा नहीं है, तो अन्य वस्तुएँ तो हमारी हो ही कैसे सकती हैं? शरीर हमारा होता तो हम इसको साथ लेकर जाते। यह किसी प्रकार भी हमारे साथ नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थितिमें हम शरीरसे जितना अधिक-से-अधिक पारमार्थिक लाभ उठा लें, वह हमारा है। इस शरीरमें यदि रोग हो जाय तो भी हमें उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; बल्कि परमात्माकी भक्तिका और ज्ञानका साधन उत्तरोत्तर तेज करना चाहिये; क्योंकि जब मनुष्य मरता है तो प्रायः बीमार होकर ही मरता है, अतः अन्तसमय अधिकांशमें बीमारी होनेकी सम्भावना रहती है। ऐसी परिस्थितिमें, बीमारीमें तो हमें साधनको विशेष तेज करना चाहिये। पता नहीं, यही बीमारी हमारे इस शरीरका अन्त करनेवाली हो।

इसी प्रकार जितने भी संसारके पदार्थ हैं, सभी नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं। हम यदि अपने खानेके लिये अन्न और पहननेके लिये वस्त्र अधिक मात्रामें इकट्ठा करके रोक रखते हैं तो यह हमारी अनधिकार चेष्टा है। संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबपर सबका समान भावसे अधिकार है। जो मनुष्य अपने अधिकारमें अधिक वस्तुओंका संग्रह करके उनको अपने भोगके काममें लाना

चाहता है या अपने कुटुम्बके लिये रोककर रखना चाहता है, वह अज्ञ है। उसे यह समझना चाहिये कि जिन वस्तुओंपर वास्तवमें सबका समान भावसे हक है, हमें क्या अधिकार है कि हम अपने हिस्सेसे अधिक उन वस्तुओंपर अपना अधिकार जमावें। हाँ, यदि संसारके हितके लिये आप अधिकार जमाते हैं तो भले ही आप किसी राज्यपर अधिकार जमा लें, चाहे सारे ब्रह्माण्डपर ही अधिकार जमा लें, उसमें कोई दोष नहीं है। यदि आपके हृदयमें यह भाव है कि यह वस्तु हमारी नहीं है, जगज्जनार्दनकी है, इससे हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हम इसमें केवल निमित्तमात्र हैं, हम यथायोग्य प्रभुकी सेवामें लगानेके लिये केवल ट्रस्टीकी भाँति इसकी रक्षा और सँभाल करनेवाले हैं, तो यह बहुत उत्तम बात है। परंतु इस रक्षाके भावमें भी रक्षकपनका अभिमान नहीं आना चाहिये। यह समझना चाहिये कि इसके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह केवल निमित्तमात्र है और यों निश्चय करके हर समय चित्तमें बड़ी उदारता रखनी चाहिये। कोई भी योग्य अधिकारी ग्राहक मिल जाय यानी सेवा करानेवाला मिल जाय तो यह समझना चाहिये कि इनकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है जो मुझको पवित्र करके संसारसे उद्धार करनेके लिये मुझसे सेवा लेनेके लिये पधारे हैं; भगवान् इनको भेजकर मुझसे सेवा ले रहे हैं, इनके द्वारा भगवान् अपनी चीज मुझसे सँभाल रहे हैं, मेरे पास यह चीज अमानतकी तरह पड़ी थी, भगवान्‌की सेवामें लग गयी, यह बहुत अच्छी बात है। और यदि हम यह समझ लेते हैं कि स्वयं भगवान् ही हमसे सेवा लेनेके लिये पधारे हैं, तब तो और भी उत्तम बात है; क्योंकि उस समय हमें अतिशय प्रसन्नता, शान्ति और

आनन्द होता है ! यह समझकर हमें हर समय उपर्युक्त भावसे सेवा करनी चाहिये कि यह भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌की सेवामें लग जाय और इसके लिये सदा सहर्ष प्रस्तुत रहना चाहिये ।

यदि हम इन वस्तुओंको अपनी मानकर यहाँ छोड़कर चले जायँगे तो आगे जाकर हमको घोर दण्ड मिलेगा । ये चीजें भी हमारे किसी काममें नहीं आयेंगी । न मालूम, इनका कौन मालिक होगा । सरकार मालिक होगी या अन्य कोई । कुछ भी पता नहीं है । कोई भी हो, इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा । इसलिये जबतक हम जीवित हैं, तभीतक अपनेको सँभाल लेना चाहिये, वस्तुमात्रसे अपना अधिकार उठा लेना चाहिये, अपनेको भगवान्‌के सामने निर्दोष बना लेना चाहिये ।

जीवन रहेगा तो धन, मकान या कुटुम्बके भरोसे थोड़े ही रहेगा; वह तो भगवान्‌की कृपाके ही भरोसे रहेगा । यथार्थमें यों मानना भी अपने जीवनके लिये भगवान्‌का आसरा लेना है; अतः सकाम भाव है । किंतु उस चोरीसे तो यह भाव भी बहुत श्रेष्ठ है । दूसरोंके—जगज्जनार्दनके धनपर अपना अधिकार जमाना तो प्रत्यक्ष चोरी है । दुनियामें जितना भी है, वह सब दूसरोंका है यानी सबके हिस्सेका है। चाहे उसे भगवान्‌का समझें, जनताका समझें या प्रकृतिका समझें। अर्थात् भक्तियोगकी दृष्टिसे भगवान्‌का, कर्मयोगकी दृष्टिसे जनताका और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे प्रकृतिका समझें । किसी भी हालतमें वह हमारा नहीं है । इसलिये किसी भी धनके ऊपर, किसी भी शरीरके ऊपर या किसी भी ऐश्वर्यपर हम यदि अपना अधिकार जमाते हैं, तो वह हमारी अनधिकार चेष्टा और बड़ी भारी अज्ञता है । यदि

हम इन पदार्थोंपर अपना अधिकार कायम करके मर जायँगे तो चोरको जो दण्ड होता है, वही हमें भी प्राप्त होगा। यह बात सर्वथा युक्तिसंगत तथा शास्त्रसंगत है। अतः अकाट्य है।

अतएव इस बातको ध्यानमें रखकर हमें संसारकी वस्तुओंसे तथा शरीरसे अपना माना हुआ अधिकार हटा लेना चाहिये तथा परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये। परमात्माके स्वरूपमें अचल निरन्तर नित्य स्थितिमें यह अनुचित अधिकार बड़ा बाधक है। इसमें हमारा मन फँसा है, यही मरनेके समय महान् दुःख देता है। इसी कारण हमारा चित्त संसारमें अटक जाता है, जिससे हमारी दुर्गति होती है। जीते हुए भी दुर्गति और मरनेके समय भी दुर्गति। अतः विशेष ध्यानपूर्वक यह विचार करना चाहिये कि 'मेरा इससे क्या सम्बन्ध है, क्यों मैं अपने गलेमें फाँसी लगाकर अपना अहित कर रहा हूँ।' जब यह बात समझमें आ जायगी, तब स्वतः ही शरीर और संसारसे सम्बन्धविच्छेद हो सकता है। फिर यह प्रत्यक्ष हो सकता है कि मेरा इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मेरी यही जिम्मेवारी है कि मैं इसको जल्दी-से-जल्दी परमात्माकी सेवामें लगा दूँ। तभी मेरी जिम्मेवारी दूर होती है अर्थात् मैं सब ऋणोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता हूँ। इसलिये जिन पदार्थोंपर अपना अधिकार है तथा जिनमें ममता और अभिमान है, उनपरसे शीघ्र-से-शीघ्र अधिकार तथा ममता-अभिमान उठाकर परमात्माकी शरण हो जाना चाहिये; परमात्माके स्वरूपमें अपनी स्थिति कर लेनी चाहिये। परमात्माके स्वरूपमें जो स्थिति है, वही ब्राह्मी स्थिति है और ब्राह्मी स्थितिका फल ही परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है।

परमात्माके आनन्दमय स्वरूपका ध्यान

एकान्त और पवित्र देशमें स्थिरतासे सुखपूर्वक आसन लगाकर बैठे और परमात्माका ध्यान करे। संसारमें ध्यानके समान श्रेष्ठ कोई भी साधन नहीं है। भगवान् कहते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे (सर्वथा) त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

परमात्माका स्वरूप है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २ । १) अर्थात् 'वह ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है ।' वह परमात्मा चेतन है । यह सम्पूर्ण संसार उस चेतनके संकल्पमें है । परमात्मा यदि संसारके संकल्पका त्याग कर दे तो केवल एक चेतन परमात्मा ही रह जाय । संसारमें तीन पदार्थ हैं—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय । इनमें ज्ञान और ज्ञेय तो जड हैं तथा ज्ञाता चेतन है । जो जाननेमें आता है, उसे 'ज्ञेय' कहते हैं; जिसके द्वारा जाना जाता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जाननेवाला 'ज्ञाता' है । ज्ञातापर ही ज्ञेय और ज्ञान निर्भर करते हैं । ज्ञान और ज्ञेय—ये सब मानी हुई वस्तु हैं । जैसे स्वप्नका संसार माना हुआ है, वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, केवल संकल्पमात्र है, इसी प्रकार यह दृश्य संसार भी संकल्पमात्र है । यदि वास्तवमें हो तो फिर—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः*।'

(गीता २ । १६)

इस सिद्धान्तके अनुसार उसका विनाश नहीं होना चाहिये । पर हमारे देखते-देखते सब पदार्थ नष्ट होते जा रहे हैं । इस विनाशशीलताके कारण ये अनित्य हैं और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं, संकल्पमात्र एवं काल्पनिक हैं । इनकी जो कल्पना करता है, वह चेतन है और वह आत्मा है ।

आत्मा चेतनस्वरूप है और जो चेतन है, वही आनन्द है । हमें चेतनता तो प्रतीत होती है, किंतु आनन्द प्रतीत नहीं होता ;

* असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है ।

क्योंकि ज्ञान और ज्ञेयके साथ आत्माका सम्बन्ध होनेके कारण उस चेतन आत्माका यथार्थ स्वरूप आच्छादित हो रहा है। जैसे सूर्य महान् प्रकाशस्वरूप है, पर बादलोंसे आच्छादित होनेपर वह नहीं दीखता, इसी प्रकार आत्मा चेतनस्वरूप है, परंतु अज्ञानसे आच्छादित होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। आत्मा परमात्माका ही अंश है। इसलिये अद्वैतसिद्धान्तसे आत्मा और परमात्मा एक ही वस्तु है। यह आच्छादन अपना माना हुआ है, कल्पनामात्र है। इसका बाध करनेके अनन्तर एक परमात्मा ही रह जाता है।

परमात्मा है, वह महान् है, अनन्त है, असीम है, चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, बोधस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार ध्यान करे। वह परमात्मा इस चराचर संसारके नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है, जैसे बादलोंके नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर आकाश परिपूर्ण है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

(१३। १५ का पूर्वार्द्ध)

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।' जैसे आकाश अव्यक्त और निराकार है, वैसे ही परमात्मा भी अव्यक्त और निराकार है; किंतु आकाशके साथ परमात्माकी कोई तुलना वस्तुतः नहीं हो सकती; क्योंकि आकाश जड है और परमात्मा चेतन है, आकाश शून्य है और परमात्मा आनन्दघन है। इसीलिये उसे सत्, चित्, आनन्दघन कहते हैं। सत् माने परमात्मा है। चेतन माने वह ज्ञानस्वरूप है, बोधस्वरूप

है। वह चेतन ही आनन्द है। इसलिये उसे 'विज्ञानानन्दघन' कहते हैं।

वह आनन्द आत्यन्तिक सुखरूप है। उस सुखका ज्ञान भी उस सुखरूप परमात्माको ही है, इसलिये उस सुखरूप परमात्माको ही 'आनन्दमय' कहा गया है। वह आनन्द ही चेतन है और वह चेतन ही आनन्द है। इसलिये उसको विज्ञान-आनन्दघन कहते हैं। अभिप्राय यह कि उस आनन्दका ज्ञान दूसरे किसीको नहीं है, वह आनन्दमय परमात्मा आप ही अपनेको जानता है। ऐसा वह चिन्मय-स्वरूप आनन्दघन है। वह परमात्माका स्वरूप हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब ओर परिपूर्ण है। एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है, अर्थात् परमात्माके सिवा संसार कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार संसारका बिल्कुल अभाव करके संकल्प-रहित हो जाना चाहिये। यही उस निर्गुण-निराकार परमात्माका ध्यान है।

भक्तिके मार्गमें तो दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा संसारका छेदन कर देना चाहिये—उसको भुला देना चाहिये, यानी तीव्र वैराग्यके द्वारा संकल्परहित हो जाना चाहिये और ज्ञानके मार्गमें संसारको स्वप्नवत् मानकर उसका इस प्रकार अभाव कर देना चाहिये कि संसार है ही नहीं। बिना हुए ही यह संसार दीखता है। परमात्माका संकल्प होनेके कारण यह सत् दीखने लगा, वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा अपने संकल्पको छोड़ दे तो संसार कहीं है ही नहीं।

अतः ऐसी धारणा करे कि परमात्माने अपने संकल्पको त्याग